भारतीय आधुनिक शिक्षा
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है, जिसके कुछ प्रमुख स्तंभ इस प्रकार हैं :
शिक्षा दर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, वर्तमान शिक्षा की समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्राविधि संबंधी नवीन विकास, अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा जगत, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति, शिक्षा शास्त्रियों से भेंट वार्ता, नवाचार, पाठकों के पत्र, पुस्तक समीक्षा।
लेखकों से निवेदन है कि रचनाएं भेजते समय इस बात का ध्यान रखें कि रचना डबल स्पेस में टाईप की हुई अथवा साफ लिखी हुई हो। रचना की दो प्रतियां भेजें। रचना के अन्त में रचनकार के हस्ताक्षर आवश्यक है। रचना भेजते समय यह अवश्य सूचित करें कि प्रेषित रचना अप्रकाशित/अप्रसारित है।
प्रकाशित रचनाओं पर परिषद् के नियमानुसार पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

एक प्रति : 8.50 रुपये

वार्षिक मूल्य : 34.00 रुपये

सम्पादकीय सम्पर्क :

प्रधान सम्पादक, पत्रिका प्रकोष्ठ
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग
नई दिल्ली 110 016

वर्ष : दशम्   अंक : प्रथम
जुलाई 1992

भारतीय आधुनिक शिक्षा

विषय सूची

पाठकों के पत्र

भारतीय आधुनिक शिक्षा में छपे लेखों पर पाठकों की प्रतिक्रियाएं आमंत्रित हैं। यथास्थान इन्हें प्रकाशित करने का प्रयास किया जाएगा।

छात्रों में उद्यमिता का विकास : भारतीय शिक्षा में एक नया आयाम

मंजीत सेनगुप्त

रीडर
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली - 110016

उद्यमिता के पक्ष में जन मानस तैयार करना होगा तथा उद्यमिता विकास को निकट भविष्य में एक जन आन्दोलन का रूप देना होगा । तभी देश के नवयुवक व नवयुवतियाँ अपने अन्दर छिपी हुई शक्तियों को पहचान सकेंगे तथा देश के आर्थिक नवनिर्माण में सृजनात्मक भूमिका निभा सकेंगे ।

किसी देश के आर्थिक विकास के स्तर तथा उस देश में कार्यरत उद्यमियों की संख्या के मध्य एक सकारात्मक संबंध पाया जाता है । उद्यमी शब्द से ऐसे क्रियाशील, उद्देश्यपूर्ण तथा स्वतंत्र प्रकृति के नर-नारियों की छवि उजागर होती है जो अपनी सृजनशीलता व नवाचार के बल पर उपलब्ध भौतिक, नैसर्गिक तथा मानव संसाधनों को तत्संबंधी उत्पादन सम्भावनाओं में बदल देते हैं । इस प्रकार अनिश्चितता से निरन्तर जूझने वाले ये व्यक्तित्व समाज में न केवल एक महत्वपूर्ण परिवर्तक की भूमिका निभाते हैं अपितु अपने स्वरोज़गार द्वारा उसकी आर्थिक सम्पत्ति में भी उल्लेखनीय वृद्धि करते हैं । कदाचित् इन्हीं चारित्रिक गुणों के कारण विकसित विश्व में उद्यमी व्यक्ति अत्यन्त सम्मान का पात्र होता है ।

उद्यमी शब्द का प्रथम प्रयोग सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में फ्रांस मे किया गया । वहाँ सैन्य अभियानों का नेतृत्व करने वालों को इस नाम से पुकारा जाता था । व्यापार के क्षेत्र में यह शब्द सर्वप्रथम 18वी शताब्दी में प्रयुक्त हुआ। इस सन्दर्भ में ऐसे व्यापारी को उद्यमी की संज्ञा दी जाती थी जो अनिश्चित दामों पर वस्तुओं का क्रय- विक्रय किया करता था ।

हाल के वर्षों में इस शक्तिशाली मानव सामर्थ्य को विकासशील देशों की आर्थिक उन्नति से संलग्न करना अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा रहा है । उद्यमिता- विकास का सुनियोजित कार्यक्रम उद्यमिता के क्षेत्र में किसी विशिष्ट वर्ग या समुदाय के प्रभुत्व को दूर करने में एक सहायक भूमिका निभाता है । साथ ही ऐसा कार्यक्रम सभी को समान अवसर प्रदान करने में भी मदद करता है । आज की परिस्थितियों में जबकि शिक्षित बेरोजगारों की बढ़ती हुई संख्या ने एक गंभीर सामाजिक समस्या का रूप ले लिया है तथा रोज़गार के नये अवसरों में वृद्धि की तुलना में रोज़गारोन्मुख शिक्षितों की संख्या कहीं अधिक है भावी उद्यमियों का विकास एक विवादहीन प्रश्न है । अतः भारतीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में स्वदेशी उद्यमियों का विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण व परमावश्यक हो गया है ।

भारतीय संस्कृति में उद्यमिता की परम्परा काफी प्राचीन है । संस्कृत साहित्य में उद्यम की महत्ता का वर्णन मिलता है जिसमें इसे सफलता की कुंजी कहा गया है :

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति, कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

इसी सन्दर्भ में अन्यत्र कहा गया है :

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी

हिन्दी साहित्य में भी उद्यम को सर्वोपरि माना गया है :

उद्यम उद्यम उद्यम, उद्यम ही सबसे बढ़कर है।
भाग्य बिचारा क्या कर लेगा, वह उद्यम का अनुचर है।।

भारत की प्राचीन गाथाओं मे भारतीय व्यापारियों व नागरिकों के उद्यमी होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उद्यमिता के बल पर ही भारतीयों ने पड़ोसी देशों में समस्त प्राकृतिक बाधाओं को पार कर व्यापार का जाल बिछा दिया था। भारत को सोने की चिड़िया नामक विशेषण की प्राप्ति कदाचित् इन्हीं अनजान उद्यमियों के साहस, पहल व नया खोजने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। कालान्तर में उद्यमिता की यह संस्कृति अंग्रेजों के सुनियोजित प्रयासों के फलस्वरूप दब कर रह गई। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजी राज की नीतियों ने देश का धन विदेशों में पहुँचा दिया तथा पारम्परिक हस्तशिल्प को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया। अंग्रेजी शासकों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा का ध्येय ऐसे परमुखोपेक्षी युवक- युवतियों का निर्माण रह गया जो शासन के इशारों पर उठ- बैठ सके परन्तु अपनी मौलिक शक्तियों का समाज हित मे प्रयोग न कर सके। औपनिवेशिक शासन की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति ने स्वरोजगार व स्वदेशी उद्यमिता की परम्पराओं को बहुत हद तक नष्ट कर दिया।

उद्यमिता विकास के बारे में पुनः सक्रियता स्वतंत्रोत्तर भारत मे ही देखने को मिलती है। 1955 से 1965 के दशक मे छोटे व कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी आ गई। तत्पश्चात् देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उद्यमियों की पहचान, अभिप्रेरण, प्रशिक्षण तथा विकास के अनेक नियोजित व व्यवस्थित प्रयास देखने को मिलते हैं। वर्तमान समय मे मुख्यतया नौकरियों के अवसरों में कमी के कारण सभी का ध्यान इस ओर केन्द्रित हो गया है।

स्कूल-कालेज की चारदीवारी से निकलने के पश्चात् किसी युवक या युवती के समक्ष मोटे तौर पर व्यवसाय संबंधी दो प्रमुख विकल्प होते हैं। पहला जिसमें व्यक्ति सरकारी दफ्तरों में, सार्वजनिक प्रतिष्ठानों मे या निजी क्षेत्र में पूर्वनिर्धारित मजदूरी या निश्चित वेतन पर नौकरी प्राप्त करता है। दूसरा विकल्प स्वरोजगार से संबंधित होता है। यह विकल्प कष्टसाध्य व चुनौती भरा परन्तु उज्ज्वल भविष्य के लिए अनेक सम्भावनाओं को समेटे हुए होता है।

विकासशील विश्व में एक ओर बढ़ती हुई जनसंख्या की विकराल समस्या तथा दूसरी ओर औद्योगिक व व्यावसायिक प्रतिष्ठानों मे स्वचालित यंत्रों के बढ़ते हुए प्रयोग के फलस्वरूप वेतन रोज़गार के अवसरों मे भारी कमी आई है। स्वभावतः भी वेतन रोज़गार की सीमाएँ सदैव सीमित ही रही हैं क्योंकि इसमें संसाधनों का उत्पादन आवश्यक रूप से सम्मिलित नहीं होता। इसके अतिरिक्त वेतन रोज़गार में स्वतः संतृप्त होने की तीव्र प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमे रिक्त स्थान की एक बार पूर्ति होने पर वह स्थान अन्य प्रार्थियों के लिए कम से कम अगले दस वर्षों तक रोज़गार की सभी सम्भावनाओं को समाप्त कर देता है। वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों मे बहुधा वेतन रोज़गार मानव को अकर्मण्यता की ओर ले जाता है तथा व्यक्ति अनायास ही उत्तरदायित्व से दूर भागने लगता है।

दूसरी ओर स्वरोजगार उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन द्वारा, निर्यात स्थानापन्नों या आयात माल और विविध सेवाओं के माध्यम से कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करता है। अक्सर एक स्वरोज़गार पर आधारित उपक्रम अन्य कई व्यक्तियों को रोज़गार देता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपक्रम कई अन्य आर्थिक गतिविधियों जैसे परिवहन, विद्युत, विपणन, संचार को प्रोत्साहन देता है। बड़े उद्योग अनेक छोटे उद्योग- धंधों के जनक होते है। इस प्रकार हर

एक स्वरोज़गार भविष्य मे एकाधिक रोज़गार चक्र का पोषण करता है ।

अतः वर्तमान बेरोज़गारी की समस्या जो बहुत हद तक वेतन रोज़गार पर अत्यधिक निर्भरता की देन है का संभावित हल स्वरोज़गार के प्रोत्साहन मे ही निहित है । परन्तु इस प्रक्रिया को समुचित गति व सही दिशा प्रदान करने के लिए नवयुवकों व नवयुवतियों मे उद्यमिता के गुणों जैसे नये खोजने की तीव्र इच्छा, खतरा उठाने को तैयार रहने की मानसिकता, अवसरों को पहचान कर पहल करने की क्षमता, उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्राप्ति हेतु जागरूकता, लगन व समस्या- समाधान के प्रति सकारात्मक रुख आदि का विकास अत्यावश्यक हो जाता है ।

आर्थिक क्षेत्र मे उद्यमियों की कमी तथा वेतन रोज़गार के लिए सीमाहीन पंक्ति इस बात का परिचायक है कि हमारे शैक्षिक पाठ्यक्रम मे उद्यमिता तत्व का सर्वथा अभाव है । इसी कमी को दृष्टि में रखते हुए शिक्षण प्रशिक्षण के विभिन्न स्तरों पर ऐसे शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है जो छात्रों में तकनीकी, प्रबन्ध विषयक, मनोवैज्ञानिक तथा उपक्रम स्थापना से संबंधित कौशलों का विकास कर सके । इस प्रकार की शिक्षा का *मुख्य उद्देश्य* है छात्रों को आत्मनिर्भर व स्वतंत्र स्वामित्व के लिए प्रेरित कर उद्यमिता की संस्कृति का सूत्रपात करना ।

भारत में तथा अन्यत्र किये गये प्रयोग यह दर्शाते हैं कि उद्यमिता का गुण जन्मजात भी हो सकता है और इसे प्राप्त भी किया जा सकता है । परन्तु उद्यमिता विकास की यह प्रक्रिया किसी भी प्रकार एक असंगठित प्रयास नहीं हो सकती । उद्यमिता का विस्तार विभिन्न स्तरों पर तथा विविध आर्थिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है । भारतीय समाज में उद्यमिता की संस्कृति के पुनरोदय के लिए विविध रणनीतियों को अपनाकर बहुकोणीय शिक्षण- प्रशिक्षण कार्यक्रमों को लागू करना होगा । ऐसा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि उद्यमिता विकास की प्रक्रिया विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक कारकों से संबंधित होती है । विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ अपने- अपने स्तर पर उद्यमिता विकास के इस कार्यक्रम मे सहभागी हो सकते हैं । इस संदर्भ मे कुछ संभावित रणनीतियॉ इस प्रकार है : जनसंचार माध्यमों का उपयोग कर जनसाधारण को शिक्षित करना; विशिष्ट अभिप्रेरक कार्यक्रमों का विस्तार; सहायक सुविधाओं तथा समर्थक प्रणालियों को सुनिश्चित करना तथा विद्यालयों, महाविद्यालयों व विशिष्ट सस्थाओं मे उद्यमिता विकास हेतु क्रमबद्ध पाठ्यक्रम लागू करना ।

प्रारम्भिक स्तर पर विचारों व आचरण निर्माण से संबधित उद्देश्य प्रमुख होंगे । इस स्तर पर छात्रों को ऐसी कथाओं, साहसिक यात्राओं व ऐसे नर- नारियों के सम्पर्क में लाया जाना चाहिए जिन्होंने परिश्रम, लगन व योग्यता के बल पर समाज मे एक उद्यमी होने का गौरव अर्जित किया है । उन्हे आस- पास की व्यापारिक व व्यावसायिक गतिविधियों तथा समाज में निरन्तर होने वाले तकनीकी परिवर्तनों से परिचित कराया जाना चाहिए । आगे चलकर माध्यमिक स्तर पर इन्हीं जानकारियों को अधिक व्यापक आधार दिया जाना चाहिए । धीरे- धीरे इन कोमल कौशलों को कठोर कौशलों से जोडकर व्यवसाय व उपक्रम स्थापना से संबंधित ज्ञान व कौशलों का सघन प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि छात्र कार्यानुभव तथा अपेक्षित दक्षता प्राप्त कर सके । उत्तर माध्यमिक स्तर पर उद्यमिता के प्रबन्धात्मक पक्षों पर जोर देना होगा जिससे वे एक उपयुक्त स्वरोज़गार का चयन कर उसके सफल कार्यान्वियन के लिए आवश्यक कदम उठा सके ।

अग्रलिखित वर्णन से जो आयाम उभरकर सामने आते हैं वे भारतीय शिक्षा के लिए नये हैं । समय की मॉग को देखते हुए शिक्षा पद्धति मे इन आयामों को प्रभावी रूप से लाना होगा, उद्यमिता के पक्ष मे जन मानस तैयार करना होगा तथा उद्यमिता विकास को निकट भविष्य में एक जन आन्दोलन का रूप देना होगा । तभी देश के नवयुवक व नवयुवतियाँ अपने अन्दर छिपी हुई शक्तियों को पहचान सकेंगे तथा देश के आर्थिक नवनिर्माण मे सृजनात्मक भूमिका निभा सकेंगे ।

गढ़वाल के संस्कृत अभिलेखों में शिक्षा-तत्व

राकेश चन्द्र नौटियाल

उपाचार्य, शिक्षा संकाय, गढ़वाल विश्वविद्यालय
टिहरी गढ़वाल, उत्तर प्रदेश -249001

अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि, भाषा, अलंकार, भूमि के प्रकार एवं उसकी माप का विवरण तथा मुद्राओं के भेद से सहज निष्कर्ष निकलता है कि उस काल में शिक्षा का प्रसार रहा है, भले ही सीमित रहा हो।

हिमालयी श्रेणियों मे अवस्थित गढ़वाल संभाग का बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री एवं यमनोत्री सदृश्य तीर्थों की स्थिति से सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में विशिष्ट स्थान है। वर्तमान मे पांच जनपदों- चमोली, पौड़ी, टिहरी, उत्तरकाशी तथा देहरादून- से संयुक्त यह मण्डल पुराणों मे "केदार- खंड"[1] के रूप मे वर्णित है। वैदिक मानचित्रों मे उत्तराखण्ड का यह भूभाग उशीनर[2] प्रदेश के अन्तर्गत दर्शाया गया है तथा महाभारत काल में यह कुलिन्द प्रदेश[3] के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

अतिप्राचीन काल से ही देवभूमि व पुण्य क्षेत्र के रूप मे प्रतिष्ठित होने, भगीरथी की उद्गम स्थली तथा हिमालय के रहस्यमयी सौदर्य के सम्मोहन क्षेत्र होने के कारण इस अंचल ने सदा ही साधकों एवं सत्य- पिपासुओं की साधना हेतु सर्वोत्तम, परिवेश प्रस्तुत किया है। फलस्वरुप अनन्त काल से यहॉ साधकों, परिव्राजकों, ऋषिमुनियों एवं नरेशों का आगमन होता रहा है। समय की गति के साथ पर्वतों में जगह- जगह ग्राम, पल्लिका, पुर व हाटों के विकास होने से यह विस्तृत भू- भाग जनाकीर्ण होने लगा[4]। प्राचीन काल में यहां जो राजा हुए या विजय वाहिनियों के साथ जो नरेश यहां आये उनके द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख, वृषताप शासन पत्र और ताम्रपत्र गढ़वाल क्षेत्र के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के इतिहास एवं संस्कृति की महत्वपूर्ण धरोहर हैं।

गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख[5]

उत्तरांचल के गढ़वाल मंडल में पुरातात्वीय महत्व की सामग्री बिखरी पड़ी है जिसमें सिक्के, शिलालेख, त्रिशूल लेख, ताम्रपत्र, भित्ति लेख एवं वृषतापशासन प्रमुख हैं जो संस्कृत, पालि व गढ़वाली भाषाओं में हैं। संस्कृत भाषा के उपलब्ध अभिलेखों को तालिका 1 में संजोया गया है।

उपरोक्त सभी अभिलेख छठी से तेरहवीं शताब्दी विक्रमी तक के समय अन्तराल के हैं। इनमें से कुछ अभिलेख ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। कुछ में धार्मिक जीवन का स्वरूप परिलक्षित होता है तथा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं कहीं- कहीं राजनैतिक जीवन की भी झलक मिलती है।

गढ़वाल हिमालय में उपलब्ध संस्कृत अभिलेखों को साहित्य सौष्ठव की दृष्टि से उल्लेखनीय माना जाता है। इनकी विषय- वस्तु का अध्ययन करने पर शिक्षा, शिक्षा- व्यवस्था एवं शिक्षा संस्थाओं (गुरुकुल, गुरू आश्रम) के विषय मे विस्तार से तो कुछ अंकित नहीं मिलता पर अभिलेखों की विशेषताएं अनेक स्थानों पर शिक्षा के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

तालिका 1
संस्कृत अभिलेख सूची

क्रमांक	अभिलेख का नाम/ नरेश का नाम	उत्कीर्णक	प्राप्ति स्थान	लिपि	भाषा	काल
1.	तालेश्वर अभिलेख- 1 (द्विज वर्मन का वृषतापशासन)	सौवर्णिक अनन्त	तालेश्वर अल्मोड़ा	ब्राह्मी	संस्कृत	छठी शताब्दी विक्रमी के आरम्भिक वर्ष
2.	तालेश्वर अभिलेख-2 (विष्णुवर्मन का वृषतापशासन)	सौवर्णिक अनन्त	तालेश्वर (अल्मोड़ा)	ब्राह्मी	संस्कृत	छठी शताब्दी विक्रमी के आरम्भिक वर्ष
3.	लाखामण्डल अभिलेख (ईश्वरा का शिलालेख)	ईश्वरणाग सूत्रधार	लाखामण्डल चकरौता तहसील देहरादून	ब्राह्मी	संस्कृत	छठी- सातवीं शताब्दी
4	उत्तरकाशी अभिलेख (श्री गुह का त्रिशूललेख)	—	बाड़ाहाट उत्तरकाशी	उत्तरी ब्राह्मी	संस्कृत	छठी- सातवीं शताब्दी
5.	सिरोली अभिलेख (नरवर्मन् का चट्टान अभिलेख)	-	ग्राम सिरोली अनुसूइया देवी पैदल मार्ग, गोपेश्वर, चमोली	ब्राह्मी	संस्कृत	छठी शताब्दी
6	पाण्डुकेश्वर अभिलेख- 2 (ललितशूर का ताम्रशासन)	श्री गंगा भद्र	पाण्डुकेश्वर, बदरीनाथ के समीप, चमोली	कुटिला	संस्कृत	910 वि०
7.	पाण्डुकेश्वर अभिलेख- 3 (पद्मटदेव का ताम्रशासन)	श्रीनन्द भद्र	बदरीनाथ के समीप	कुटिला	संस्कृत	दसवीं शताब्दी विक्रमी
8.	पाण्डुकेश्वर अभिलेख-3 (सुभिक्षराज का ताम्रशासन)	श्रीनन्द भद्र	बदरीनाथ के समीप	कुटिला	संस्कृत	दसवीं शताब्दी विक्रमी
9.	कालीमठ का अभिलेख (रूद्रसूनु का शिलालेख)	-	कालीमठ तीर्थ गुप्तकाशी, चमोली	कुटिला	संस्कृत	बारहवीं शताब्दी विक्रमी
10.	गोपेश्वर अभिलेख (अशोकचल्ल का त्रिशूलाभिलेख)	-	गोपेश्वर, चमोली	कुटिला	संस्कृत	तेरहवीं शताब्दी विक्रमी
11	नाला अभिलेख (गणदेव का शिलालेख)	-	गुप्तकाशी, चमोली	कुटिला	संस्कृत	बारहवीं शताब्दी विक्रमी साके 1168

संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण इन अभिलेखों का लेखन बुहत शुद्धता से किया गया है। कतिपय अशुद्धियां भी मिल जाती हैं पर विद्वान इन्हें छेनी का असन्तुलन मानना उपयुक्त समझते हैं[6]। लेखों की पंक्तियों का पृथकीकरण विशेष विराम चिह्नों (।, ॥) से किया गया है। विसर्ग हलन्त व ऽ (ह्रस्व अ) का समुचित प्रयोग हुआ है। इनमें विक्रम सम्वत् या शक सम्वत् कुछ में तिथि, मास, वार, पक्ष, घड़ी, ग्रहों की स्थिति, लिखने के स्थान के अतिरिक्त रचयिता, लेखक, उत्कीर्णक तथा लिखवाने वाले अधिकारी का नाम, पदनाम भी मिल जाता[7] है। इतनी विस्तृत व्यवस्थित जानकारी प्रस्तुत करना लेखक, उत्कीर्णक एवं लिखवाने वाले अधिकारी की शैक्षिक स्थिति संबंधी शंकाओं को निर्मूल सिद्ध करता है। शताब्दियों पूर्व भाषा की परिष्कृतता एवं गणित का समुचित ज्ञान शिक्षा के अभाव में अकल्पनीय है।

अभिलेखों मे प्रयुक्त लिपि, भाषा, अलंकार, भूमि के प्रकार एवं उसकी माप का विवरण तथा मुद्राओं के भेद से सहज निष्कर्ष निकलता है कि उस काल में शिक्षा का प्रसार रहा है, भले ही सीमित रहा हो। प्रकृति के उपादानों, व्यक्तियों एवं स्थानों आदि के नामकरण की पद्धति उनके व्यावहारिक ज्ञान की पुष्टि करती है, यथा पुष्प, फल, वृक्ष, फसल, पशु- पक्षी सरी- सृपादि पर आधारित नाम- महासाल, पुरांसिका, सेम्मलक्षेत्र, शृगालखोहृणक, काकस्थली, कटकभृष्टि, वज्रस्थल, कार्तिकेयपुर, त्रयम्बपुर, बदरिकाश्रम, अरिष्टाश्रम, गरूड़ाश्रम, वारुणाश्रमादि। आश्रम प्रत्यय से धार्मिक व आध्यात्मिक शिक्षा केन्द्र का होना स्पष्ट होता है। गढ़वाल हिमालय मे बदरिकाश्रम, रुद्राश्रम, जमदग्न्याश्रम, परशुरामाश्रम, काल्याश्रम, रेणुकाश्रम, नन्दाश्रम, व्यासाश्रम, कण्वाश्रम, अगस्त्याश्रम आदि अनेक आश्रम हुए हैं जिनमे वैष्णव, शैव तथा शाक्त धर्म सम्प्रदायों से संबंधित शिक्षा, दर्शन, वेद- वेदांग, आयुर्वेद, आयुध, सामवेद की प्रमुख रूप से शिक्षा- दीक्षा दी जाती रही है[8]। इन आश्रमों को नारद, व्यास, गणेश, अगस्त्य, परशुराम, जमदग्नि, कण्व, भारद्वाज जैसे प्रसिद्ध आचार्य एवं ऋषियों ने स्थापित किया था[9]।

गढ़वाल के संस्कृत अभिलेखों में शिक्षा व्यवस्था द्योतक शब्द अथवा संदर्भ

द्विजवर्मन के वृष्तापशासन (छठी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में उत्कीर्ण) में राजपदाधिकारियों में पाठशालाध्यक्ष का उल्लेख हुआ है। पाठशाला सदा ही शिक्षा का संस्कृत अध्ययन- अध्यापन का केन्द्र रही है। पाठशालाध्यक्ष का होना यह दर्शाता है कि यह अधिकारी राज्य या नगर की समस्त पाठशालाओं का नियंत्रण व व्यवस्था देखता रहा होगा। इसी ताम्रशासन में गौग्गुलिकों की परिषद का उल्लेख हुआ है। गौग्गुलिपरिषद का अभिप्राय वेद- वेदांग, धर्मशास्त्र आदि में पारंगत ब्राह्मणों की सभा से है जिसे प्राचीन काल के राजा धर्म आदि के मामलों का निर्णय करने के लिए बुलाया करते थे।

देवपूजाध्यक्ष महाछत्रपति को चरित्र, नीति, विद्या, विनय, सदाचार जैसे गुणों से सम्पन्न बताया गया है+स्पष्ट है कि विद्या युक्त व्यक्ति मे ही इन गुण- समूह की अपेक्षा की जा सकती है। बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) के छठी- सातवीं शताब्दी ईस्वी के अभिलेख मे राजा के गुणों का वर्णन करते हुए उसे "नीति ज्ञान से व्यास को तिरस्कृत करने वाला" कहा गया है। राजा को उत्कृष्ट नीति ज्ञान आचार्यों अथवा पुस्तकों की अनुपस्थिति मे होना व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। दसवी शताब्दी के सुभिक्षराज के ताम्रशासन में "राजा को शास्त्रों का अध्ययन कर उनकी मार्यादा का पालन करने वाला" कहा गया है। शास्त्रों का अध्ययन- अध्यापन की निश्चित ही उत्तम व्यवस्था रही होगी जिसके अन्तर्गत राजा उनका ज्ञान प्राप्त करते रहे होंगे। बारहवीं शताब्दी के मणदेव के शिलालेख (स्थान उत्तरकाशी) में "सरस्वती देवी की कृपा से इस शुभ मूर्ति की रचना की" अंकित है।

सरस्वती विद्या व बुद्धि की देवी है, जिनकी कृपा से ही सभी प्रकार की शिक्षा फलीभूत होती है।

मूर्ति रचना का उल्लेख 910 विक्रमी के ललितशूर ताम्रशासन में भी प्राप्त होता है - "उत्तरायण की संक्रान्ति के पुण्य दिन में गोरून्नासा में महोदवी श्री सोमवती के द्वारा स्वयं बनवाये गये श्री नारायण भगवान के लिए"। नारायण भगवान से अभिप्राय नारायण की मूर्ति से है। मूर्ति की रचना करवाये जाने या "नारायण की मूर्ति बनवाये" जाने से मूर्तिकला के अस्तित्व का बोध होता है। बारहवी शती के रुद्रसूनु के कालीमठ अभिलेख के अधूरे वाक्य "शिलाओं द्वारा रचना करने वालों का ... " से भी मूर्तिकार का होना ज्ञात होता है। निश्चित ही तत्कालीन सुन्दर मुर्तियों की रचना जिन कुशल हाथों ने की उन्हे कही- न- कहीं क्षेत्र में मूर्तिकला मे प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर मिला होगा और अवश्य ही योग्य एवं दक्ष प्रशिक्षक रहे होंगे अन्यथा यह कला शताब्दी दर शताब्दी जीवित न रहती।

देव मूर्तियों से संबंध जुडता है देव स्थान या मंदिरों का। इसी अभिलेख में एक अन्य अधूरे वाक्य "गिरपति शिव के मंदिर की रक्षा करने वाला महारुद्र नाम का ... " तेरहवीं शती वि० के अशोकचल्ल के त्रिशूलाभिलेख में . . राजा ने अपने राज्य में महादेव के विशाल मंदिर मे महादेव के त्रिशूल पर" बारहवी शती के मणदेव के शिलालेख मे "पुण्यकर्मों को करने के लिए देवालय की रचना की"। दसवी शती के पदमट देव के ताम्रशासन में "बदरिकाश्रम के लिए दान"; छठी- सातवीं शती के ईश्वराभिलेख मे . . . " आचार्यों से अनुगत होकर इस स्थान पर शिव का मंदिर बनवाया।" छठी शती के विष्णुवर्मन के ताम्रशासन में "देव मंदिर के पुजारियों ने", आदि अनेक संदर्भ मंदिर एवं मंदिर- निर्माण से संबंधित हैं। मंदिर एवं उनका निर्माण उस काल की वास्तुकला और ज्ञान के प्रबल प्रमाण हैं।

द्विजवर्मन के वृषतापशासन में अधिकारियों की सूची मे 'आयुधशालाध्यक्ष' भी उत्कीर्ण है। राजा के अस्त्र- शस्त्रों के भंडार की व्यवस्था के अतिरिक्त यह अधिकारी राज्य के सैनिकों को अस्त्र- शस्त्र संचालन के प्रशिक्षण का प्रबंध भी करता रहा होगा, सामरिक एवं प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह विचार देना असगत भी प्रतीत नही होता।

दरबार मे 'प्रतिशूरिक' भी होते थे जो मल्ल विद्या मे दक्ष होते थे। गढ़वाल के अनेक सुदूरवर्ती भागों मे मंदिरों के केन्द्रीय प्रागण मे अखाड़ा होता है जहां कुश्ती, गदा- मुद्गर- तीर- धनुष- बर्छी- भाला रखने व सिखाने का प्रबंध होता था। धनुर्विद्या की दीक्षा शांगिक द्वारा दी जाती थी जो कि धनुर्धरों का अधिकारी होता था।

'सौधभगाधिकृत' पद पर विद्वान एकमत नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने "सौध" का अर्थ महल या प्रासाद मान कर उसे राजप्रसाद का अभियन्ता माना है , जो कि सौधभंगाधिकृत के भवन- निर्माण में कुशल होने का द्योतक है।

क्षेत्रपाल (कृषि- अध्यक्ष) प्रमातार या प्रभातृ (भूमि सर्वेक्षण अधिकारी) एवं गौल्मिक (वन- अधिकारी) क्रमशः उपज व कृषि कर्म, भूमि की नाप- जोख तथा मूल्यवान काष्ठ एवं औषधियों की सुरक्षा- विक्रय- प्रबन्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। स्पष्ट है कि दायित्वों के निर्वहन के लिए इन्हे अपने- अपने कार्यों का यथेष्ठ ज्ञान रहा होगा तथा उनके बाद इन दायित्वों के कुशल सम्पादन हेतु नव- नियुक्ति को प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था रही होगी।

इन अभिलेखों में भूमि के प्रकारानुसार एवं नाप का लिखित आदेश किये जाने का वर्णन है। भूमि को उसकी गुणवत्ता के आधार पर नाम दिया जाना, यथा वेतस खेत, वरदीपक खेत, सिंचित खेत आदि एवं नाप के अनुसार वर्गीकृत किया जाना, यथा द्रोण परिमाण, खीरी माप, कुल्य माप, नाली माप, कण्डिया माप, कृषि के क्षेत्र मे विकसित

एवं व्यवस्थित प्रणाली की पुष्टि करते हैं। शिक्षा के अभाव में इस प्रकार वर्गीकरण व माप विकसित करना सहज संभव नहीं।

नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा

गढ़वाल के संस्कृत अभिलेखों में चारित्रिक उत्थान के लिए नैतिक शिक्षा या उपदेशों का समावेश तो किया ही गया है, आत्मिक उत्कर्ष हेतु आध्यात्मिक दर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में "लक्ष्मी" धन सम्पदा को हाथी के शिशु के कान के अग्रभाग के समान चंचल, "विद्युत तथा जल के बुलबुलों के समान चंचल" दर्शाया गया है अतएव उपदेशित किया गया है कि लक्ष्मी का परलोक में कल्याण के निमित्त उपयोग पर बल दिया जाना चाहिए। इस प्रकार धन के सदुपयोग पर बल दिया गया ताकि धन-शक्ति के मद मे व्यक्ति इहलोक के भोग-विलास में ही न रमा रह जाये। इन अभिलेखों में यह भी कहा गया है कि "मनुष्य किसी की कीर्ति विलुप्त न करें" अर्थात् दूसरों के सद्कार्यों को महत्व दिया जाये। इस प्रकार जनता को सद्कार्य करने के लिए प्रेरित किया गया है।

दान, सत्य, शौर्य, क्षमा, विनय, सदाचार, उदारता, गंभीरता को चरित्र में धारण करने योग्य गुण-समूह बताया गया है। नैतिक धर्म के विरुद्ध जो व्यक्ति मंदिर या ब्राह्मण को दान में दी गयी भूमि पर हस्तक्षेप करता है उसे पांच महापातक लगाये जाने का विधान किया गया है। ये महापातक हैं ब्रह्म हत्या, सुरापान, चोरी, गुरू-पत्नी गमन तथा इस प्रकार के पाप करने वालों का संसर्ग। समाज व धर्म के अनुसार यह कार्य महापाप थे, घृणित व जघन्य। इस प्रकार के निर्देश व व्यवस्था का लक्ष्य निश्चित ही दान दी गयी भूमि के प्रति किसी लोलुप व्यक्ति के कुत्सित विचारों को हतोत्साहित करना तो था ही, साथ ही प्रजा को पाप कर्म से विमुख कर सद्कर्म की ओर अग्रसर करना भी था।

"भूमिदान करने वाला साठ हजार वर्ष तक स्वर्ग के सुखों का भोग करेगा" तथा "मंदिर आश्रम व ब्राह्मण की भूमि छीनने वाला इतनी ही अवधि तक नरक में निवास करता है" जैसे उपदेश दानशीलता के प्रोत्साहन हेतु कहे गये हैं—पांण्डुकेश्वर अभिलेख। सुभिक्षराज के ताम्रशासन में भी इस तरह की उपदेशात्मक शिक्षा है जो व्यक्ति को ब्राह्मण के धन-हरण जैसे नीच कार्य से विमुख करती है—"जो व्यक्ति ब्राह्मण के धन का हरण करते हैं वे जल से रहित सूखे कोटरों में रहने वाले सर्पों के रूप में जन्म लेते है।"

अभिलेखों मे वर्णित नैतिक शिक्षा तत्कालीन समाज के मूल्यों एवं चारित्रिक उत्थान का दर्पण है। ऐसे सुसंस्कृत समाज में गुणवान स्त्रियाँ सदाचरण के कारण "देवी" कहलाती थीं और "सावित्री" के समान आदरणीय थीं।

अध्यात्म-दर्शन

ललितशूर, पद्मटदेव एवं सुभिक्षराज के ताम्र शासनों से जीवन के प्रति तत्कालीन सोच उद्घाटित होती है। "आयु को जल के बुलबुलों के आकार समान देखा कर", "कमल के पत्ते पर बड़े हुए जल के बिन्दु के समान मनुष्य का यह जीवन चंचल है" जैसे कथन जीवन की क्षणभगुंरता, नश्वरता एवं निस्सारता की सजीव अभिव्यक्ति करते हैं। मानव जीवन ही नहीं यह जीव-लोक भी क्षणिक है, अस्थायी है—

"जीवलोक को वायु से हिलाये जाते हुए अश्वत्थ के पत्तों की चंचल तरंगों के समान देखाकर . . . . "

पद्मटदेव अभिलेख के इन शब्दों से गंभीर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संसार की क्रियायें मनुष्य के अधीन नहीं, मनुष्य का इन गतिविधियों पर अपने कार्यों पर नियंत्रण नही, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पीपल के पत्तों की गति पर उनका या वृक्ष का नियंत्रण नहीं। संसार का नियन्ता, नियामक ही इसका कारण है। जीवन व संसार

की सारहीनता को देखकर ही मनुष्य को परलोक के कल्याणार्थ सद्कर्म करने को कहा गया है।

अभिलेखों में प्रयुक्त अलंकार

संस्कृत में रचे गये इन अभिलेखों में अनेक काव्यगत विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक शैली में रचित इन अभिलेखों में विविध अलंकारों का सौंदर्य देखने को मिलता है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति, भ्रान्तिमान, व्यतिरेक आदि अलंकारों का उदारता से प्रयोग किया गया है जो रचयिता एवं उत्कीर्णक के साहित्यिक ज्ञान का दर्पण है।

निष्कर्ष

गढ़वाल मंडल में उपलब्ध इन संस्कृत अभिलेखों मे शिक्षा व्यवस्था पर यद्यपि प्रत्यक्षतः कुछ ही संकेत मिलते हैं परन्तु अभिलेखों की विषय-वस्तु व शैली में हमे चारित्रिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से उन्नत ऐसी सामाजिक व्यवस्था के दर्शन होते है जो शिक्षा के अस्तित्व एवं उसके स्वरूप का बोध कराने मे समर्थ है।

संदर्भ

1 सिंह, पुरुषोत्तम, "बौद्धगया शिलालेख" **इंडियन एन्टीक्वायटी**, जिल्द- 10, पृ० 345

2 मजुमदार व पुसलकर, वैदिक एज; डबराल, एस०पी० के **उत्तराखंड का इतिहास**, भाग- I, वीरगाथा प्रकाशन, दुगड्डा, गढ़वाल प्रथम संस्करण से उध्दृत पृ० 94

3. **महाभारत : वन- पर्व** 130/29

4. **गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख,** गढ़वाल विश्वविद्यालय प्रकाशन- 6, प्रथम संस्करण 1981, पृ० 2

5. वही, पृ० 30-88

6. वही, पृ० 3

7. वही, पृ० 3

8 नौटियाल, आर०सी० व जुगराण इन्दिरा, "देव भूमि उत्तराखंड मे शिक्षा", **शिक्षा शोध पत्रिका,** उत्तराखंड शोध संस्थान (गढ़वाल) अंक 1991, पृ० 9

9 वही, पृ० 3-8

10. **गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख,** गढ़वाल विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० 13

हाई स्कूल एवं इण्टरमीडिएट कक्षाओं के विद्यार्थियों की मनोकांक्षाओं का तुलनात्मक अध्ययन

धीरेन्द्र कुमार शर्मा

शोध छात्र, शिक्षा संकाय, का० हि० वि० वि०,
कमच्छा, वाराणसी-221010

अध्ययन के प्राप्त परिणामों से यह स्पष्ट है कि इस विषय में व्यवस्थित एवं व्यापक शोध की आवश्यकता है । इन परिणामों के आधार पर हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट कक्षाओं में अध्ययनरत छात्र- छात्राओं के अन्तर्मन की आकुलता की अधिकाधिक जानकारी कर उनके शुभेच्छु उनका समुचित मार्गदर्शन कर सकेंगे जिससे उनका स्वस्थ समायोजन हो सकेगा, क्योंकि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही संभव है और यह उक्ति कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है, सार्थक हो सकेगी ।

1. अध्ययन की पृष्ठभूमि एवं आवश्यकता

वैयत्तिक्र विभिन्नता एक कटु सत्य है । समाज व्यत्तिमों का समूह है । किसी भी समाज मे जन- मानस की समस्यामूलक मनोकांक्षाओं के स्वरूपों एवं उनकी प्रबलताओं का पता लगाना एक दुरूह कार्य है । इस तथ्य को ज्ञात करना और भी कठिन है कि ये मनोकांक्षाएं किसी समाज मे निवसने वाले जन- मानस में कब, कैसे और किस रूप में विकसित हो जाती हैं, फिर भी यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये मनोकांक्षाएं धीरे- धीरे ज्ञात और अज्ञात कारणों, परिस्थितियों तथा वातावरण के दबाव से व्यक्ति के पारिवारिक एवं सामाजिक परिसर में ही उद्भूत होकर उसके भीतर क्रमिक विकास की अवस्था में शिथिलतम से प्रबलतम रूप ग्रहण कर लेती हैं ।

अतः बालकों के स्वस्थ मन के विकास एवं स्वस्थ समायोजन के निमित्त उनकी सहज परिचर्या एवं औपचारिक शिक्षा- दीक्षा के साथ- साथ उनकी विशिष्ट वैयत्तिक्र समस्याओं एवं मनोकांक्षाओं के स्वरूपों का भी ज्ञान अभिभावकों एवं अध्यापकों को होना आवश्यक है । इस ज्ञान के अभाव मे कभी- कभी बालक के पारिवारिक, स्वास्थ्यगत, शैक्षिक एवं सामाजिक वातावरण में आकुलता व्याप्त हो जाती है । ऐसी स्थिति में बालक स्वयं को हतप्रभ, दमित, हतोत्साहित, अभावग्रस्त एवं असहाय पाता है तथा अभिभावक एवं अध्यापक उसे अयोग्य एवं अकर्मण्य समझने लगते हैं । इस प्रकार बालक की सहज, स्वाभाविक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है । उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक, स्वास्थ्यगत, शैक्षिक एवं सामाजिक समायोजन असंतुलित हो जाता है । वह नाना प्रकार के अन्तर्दन्द्वों से आकुल हो जाता है । ऐसी दशा में यदि बालक की इन व्यक्तिगत उलझनों, अभावों और मनोकांक्षाओं की सही- सही जानकारी के साथ- साथ सहानुभूतिपूर्वक उसे सुलझाने का प्रयास किया जाये तो बालक अपने मानसिक अन्तर्द्वन्दों से छुटकारा पा सकता है तथा उसका स्वस्थ समायोजन एवं विकास हो सकता है ।

2. अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन मे माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत हाई स्कूल एवं इण्टरमीडिएट कक्षा के

विद्यार्थियों की विभिन्न मनोकांक्षाओं का पता लगाने का प्रयास उनके पारिवारिक, शैक्षिक, स्वास्थ्यगत एवं सामाजिक परिसर में किया गया है। इन विद्यार्थियों की मनोकांक्षाओं में कक्षागत एवं लिंगगत समूहों के आधार पर समानता एवं अन्तर या भिन्नता को भी जानने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि कौन- कौन सी मनोकांक्षाएं किस सीमा तक शिथिलतम, प्रबलतम, महत्वपूर्ण या महत्वहीन हैं ?

अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्यों को निम्नलिखित रूप में निरूपित किया जा सकता है -

1. हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं के लिंगगत समूहों की मनोकांक्षाओं का परस्पर अन्तर ज्ञात करना।
2. इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं के लिंगगत समूहों की मनोकांक्षाओं का परस्पर अन्तर ज्ञात करना।
3 हाई स्कूल में अध्ययनरत छात्र- छात्राओं और इण्टरमीडियट मे अध्ययनरत छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं का परस्पर अन्तर ज्ञात करना।

3. परिकल्पना

अध्ययन से संबंधित प्रमुख परिकल्पनाओं को निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया गया है-

1. हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
2 इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
3. हाई स्कूल मे अध्ययनरत छात्र- छात्राओं और इण्टरमीडिएट में अध्ययनरत छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

4. अध्ययन की विधि

प्रस्तुत अध्ययन में उपयुक्तता एवं सार्थकता की दृष्टि से सर्वेक्षण विधि को ही उपयोग में लाया गया है, क्योंकि सर्वेक्षण शोध स्वभावतः उद्गारक होते हुए प्रारंभिक स्तर पर अत्यधिक उपयोगी होते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वेक्षण शोध प्रस्तावित चरों के सार्थक संबंध की सामान्य समस्या को भी स्पष्ट करते है।

5. प्रतिदर्श

शोध प्रतिदर्श सामान्यतया किन्हीं संभावित निरीक्षणों की बहुत बड़ी संख्या के प्रतिनिधि के रूप मे होते हैं। अतः प्रस्तुत अध्ययन में हेत्वार्थक प्रतिदर्श को अध्ययन हेतु अपनाया गया है।

6. उपकरण

किसी भी शोध में उपकरण ही प्रदत्त एकत्रीकरण के माध्यम होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रदत्त एकत्रीकरण हेतु मनोविज्ञानशाला उत्तर प्रदेश, इलाहबाद द्वारा निर्मित "व्यक्तिगत- समस्या- सारिणी " का चयन किया गया है।

7. प्रदत्त एकत्रीकरण

प्रस्तुत अध्ययन में आवश्यक प्रदत्त एकत्रीकरण प्रतिदर्श में आयोजित विद्यार्थियों का परीक्षण उनकी कक्षाओं मे जाकर सामूहिक आधार पर प्रस्तावित उपकरण के माध्यम से नियंत्रित दशा में परीक्षण संचालित करके किया गया।

8. सांख्यिकीय विश्लेषण

परीक्षण से प्राप्त उत्तर- पत्रों की जांच और आकलन के बाद प्राप्त प्रदत्तों के विश्लेषण के लिए क्रान्तिक अनुपात (C. R.) का प्रयोग किया गया और प्राप्त परिणामों की 05 और .01 विश्वास स्तर पर सार्थकता की जांच की गई।

9. परिणाम और विवेचन

प्रदत्तों की इस सांख्यिकी परिगणना से प्राप्त परिणामों को विभिन्न तालिकाओं में प्रदर्शित किया गया और साथ ही उनकी विवेचना करके उसकी पुष्टि हेतुं संबंधित अध्ययनों को भी इंगित किया गया, जो इस प्रकार है :

तालिका 1

हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं का परस्पर तुलनात्मक विवरण

(प्रत्येक समूह की संख्या=50)

क्रमांक	मनोकांक्षा	छात्रों का प्राप्तांक प्रतिशत	छात्राओं का प्राप्तांक प्रतिशत	अन्तर	क्रान्तिक अनुपात
1	दैन्य	17.30	20. 11	2.81	0. 36
2.	अर्जन	14.00	10. 34	3.66	0. 56
3.	उपार्जन	14.00	4.67	9 33	1.60
4.	सम्मिलन	7.10	5.78	1.32	0. 27
5.	आक्रामकता	12.00	16 80	4.80	0. 68
6.	स्वत्व	13.34	14 00	0. 66	0. 09
7.	ज्ञानार्जन	14 00	40. 00	26.00	2 93**
8.	प्रतिकूलता	17.34	30. 67	13.33	1.56
9.	प्रतिकार	2.00	1.34	0 66	0. 26
10.	प्रतिरक्षण	22.00	36.00	14.00	1.54
11	विनय	18.50	17.50	1.00	0. 13
12.	प्रभुत्व	18.29	24.86	6.57	0. 79
13.	प्रदर्शन	8 80	8 80	0 00	0. 00
14.	क्षति परिहार	6.67	12.33	2.66	0. 42
15.	अन्तर्पीड़न	22.67	15.33	7 34	0. 94
16.	पोषण	23.60	32.80	9. 20	1.02
17.	सुव्यवस्था	4.00	7.00	3.00	0. 66
18.	निष्क्रियता	10 63	16 00	5.37	0. 79
19.	क्रीड़ा	12 00	28.00	16 00	2.00*
20	मान्यता	12 00	18 67	6.67	0. 93
21	परित्याग	15.00	13 60	1.40	0 23
22.	एकान्तता	21.00	28 00	7.00	0. 81
23	काम	10. 23	11 33	1.10	0. 18
24.	परावलम्बन	17.50	14.00	3.50	0. 48

* 05 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

** 01 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

तालिका 1 मे वर्णित हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं की 24 मनोकांक्षाओं के क्रान्तिक अनुपात की परिगणना के प्राप्त परिणामों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस कक्षा के छात्र- छात्राओं के दोनों समूहों की इन 24 मनोकांक्षाओं में से "ज्ञानार्जन" की मनोकांक्षा में . 01 विश्वास स्तर पर तथा "क्रीड़ा" की मनोकांक्षा में . 05 विश्वास स्तर पर परस्पर सार्थक अन्तर है।

"ज्ञानार्जन" एवं "क्रीड़ा" की मनोकांक्षाओं के अतिरिक्त दोनों समूहों की अन्य किसी भी मनोकाक्षा में परस्पर कोई अन्य सार्थक अन्तर नही प्राप्त हुआ है।

"ज्ञानार्जन" एवं "क्रीड़ा" की दोनों मनोकांक्षाओं में इस कक्षा की छात्राओं का प्राप्तांक प्रतिशत इसी कक्षा के छात्रों के प्राप्तांक प्रतिशत से अधिक है। इससे यह ज्ञात होता है कि हाई स्कूल की छात्राओं मे छात्रों की अपेक्षा ज्ञानार्जन एवं क्रीड़ा की मनोकांक्षा अधिक बलवती है।

जे० पी० श्रीवास्तव (1953) के प्राप्त परिणामों के अनुसार भी महिलाएं पुरुषों की तुलना मे मानसिक स्थिति में पांच वर्ष पूर्व ही परिपक्व होती दिखाई पड़ी थीं।

एम० सारस्वत (1964) के प्राप्त परिणाम भी प्रस्तुत अध्ययन के प्राप्त परिणामों की पुष्टि करते हैं। उनके अध्ययन में भी बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में "ज्ञानार्जन" की मनोकांक्षा अधिक बलवती पायी गई है और उनमें परस्पर सार्थक अन्तर भी था।

निष्कर्षतः प्रस्तुत अध्ययन के इस प्राप्त परिणाम के आधार पर अध्ययन की प्रथम परिकल्पना कि "हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नहीं है", आंशिक रूप से स्वीकृत है।

तालिका संख्या 2 में वर्णित इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं की मनोकाक्षाओं के तुलनात्मक विवरण से ज्ञात होता है कि इस कक्षा के छात्र- छात्राओं के दोनों समूहों की "ज्ञानार्जन", "प्रतिरक्षण", एवं "क्रीड़ा" की मनोकांक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी मनोकांक्षा में किसी भी विश्वास स्तर पर परस्पर सार्थक अन्तर नहीं है।

इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं के समूहों में "ज्ञानार्जन" की मनोकांक्षा में 01 विश्वास स्तर पर परस्पर सार्थक अन्तर है।

दोनों समूहों के "प्रतिरक्षण" की मनोकांक्षा में .05 विश्वास स्तर पर परस्पर सार्थक अन्तर है।

इसी प्रकार इन दोनों समूहों के क्रीड़ा की मनोकांक्षा में .01 विश्वास स्तर पर परस्पर सार्थक अन्तर है।

"ज्ञानार्जन", "प्रतिरक्षण", एवं "क्रीड़ा" तीनों मनोकांक्षाओं मे इण्टरमीडिएट के छात्रों का प्राप्तांक प्रतिशत इण्टरमीटिएट के छात्राओं के प्राप्तांक प्रतिशत से अपेक्षाकृत अधिक है। अतः कक्षा के छात्रों के समूह मे इसी कक्षा के छात्राओं के समूह की तुलना मे, "ज्ञानार्जन", "प्रतिरक्षण" एवं "क्रीड़ा" की मनोकांक्षायें अधिक बलवती है।

इन तीनों मनोकांक्षाओं के अतिरिक्त इस कक्षा के दोनों समूहों की अन्य मनोकांक्षाओं मे समरूपता ही दिखाई देती है। मनोकांक्षाओं की इस समरूपता की पुष्टि एम० सारस्वत (1964), जे० पी० बंसल (1977), एस० के० श्रीवास्तव (1981) के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों से होती है।

निष्कर्षतः प्रस्तुत अध्ययन के इस प्राप्त परिणाम के आधार पर अध्ययन की द्वितीय परिकल्पना कि "इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षा में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नहीं है" आंशिक रूप से स्वीकृत है।

तालिका 2

इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं का परस्पर तुलनात्मक विवरण

(प्रत्येक समूह की संख्या=50)

क्रमांक	मनोकांक्षा	छात्रों का प्राप्तांक प्रतिशत	छात्राओं का प्राप्तांक प्रतिशत	अन्तर	क्रान्तिक अनुपात
1	दैन्य	21.09	15. 02	6.07	0. 79
2	अर्जन	15 67	7. 34	8 33	1. 31
3	उपार्जन	14 67	4.00	10 67	1 60
4.	सम्मिलन	10 54	5.45	5.09	0. 94
5.	आक्रामकता	15.20	14.00	1.20	0 17
6.	स्वत्व	19.56	17.11	2. 45	0 32
7.	ज्ञानार्जन	46.00	14 00	32.00	3.49**
8.	प्रतिकूलता	20.00	12 67	7.33	0.99
9.	प्रतिकार	8 00	3.33	4. 67	1. 01
10.	प्रतिरक्षण	36.00	14.00	22.00	2.54*
11.	विनय	16.00	5 50	10.50	1. 70
12.	प्रभुत्व	27.72	20.57	7 15	0. 84
13.	प्रदर्शन	10 00	7.20	2 80	0. 50
14.	क्षति परिहार	8.67	10.67	2.00	- 0. 34
15.	अन्तर्पीड़न	18 00	20.00	2.00	0 25
16.	पोषण	30.40	35 60	5. 20	0.55
17.	सुव्यवस्था	10.00	10.00	0.00	0. 00
18	निष्क्रियता	18. 29	8 86	9.43	1. 38
19	क्रीडा	30.00	8.00	22 00	2.80**
20.	मान्यता	11.34	10.67	0 67	0 11
21	परित्याग	18 00	11.20	6 80	0. 96
22	एकान्तता	27 00	27.00	0 00	0 00
23.	काम	12. 00	8.89	3.11	0 51
24.	परावलम्बन	23.75	13.50	10.25	1. 32

* . 05 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

** . 01 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

तालिका 3 मे वर्णित हाई स्कूल एवं इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं के दोनों समूहों की मनोकांक्षाओं के परस्पर तुलनात्मक विवरण से ज्ञात होता है कि इन दोनों समूहों की किसी भी मनोकांक्षा में किसी भी विश्वास स्तर पर परस्पर किसी भी प्रकार का सार्थक अन्तर नहीं है।

दोनों कक्षाओं के छात्र- छात्राओं की सभी मनोकांक्षाओं में परस्पर समरूपता ही दिखाई देती है। दोनों कक्षा की छात्र- छात्रायें धनात्मक मनोकांक्षाओं की ओर उन्मुख होकर अपने- अपने परिसर के दबाव पर सन्तुलित नियंत्रण स्थापित करते हुए उनके बलवर्द्धन मे लीन होकर रचनात्मक एवं उपादेयता की ओर ही अग्रसित हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि कक्षागत आधार पर छात्र- छात्राओं के समूहों की मनोकांक्षाओं के प्रादुर्भाव एवं विकास में कोई सार्थक अन्तर नही है।

इस तालिका को अधिक ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं में जहा "प्रतिकूलता", "विनय" एवं "सुव्यवस्था" की मनोकांक्षाएं बलवती हैं, वहीं इण्टरमीडिएट के छात्र- छात्राओं में "प्रतिष्ठा" की मनोकांक्षा प्रबल है। उनकी यह प्रबलता भी एक मर्यादित सीमा में ही निहित है।

एम० सारस्वत (1964), वी० के० शर्मा, (1968), एवं एस०के० श्रीवास्तव (1981) के अध्ययनों से प्राप्त परिणाम प्रस्तुत अध्ययन के प्राप्त परिणामों की पुष्टि करते हैं।

निष्कर्षतः प्रस्तुत अध्ययन के इस प्राप्त परिणाम के आधार पर अध्ययन की तृतीय परिकल्पित परिकल्पना कि "हाई स्कूल मे अध्ययनरत छात्र- छात्राओं और इण्टरमीडिएट कक्षा मे अध्ययनरत छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं में परस्पर कोई सार्थक अन्तर नही है", पूर्णरूपेण स्वीकृत है।

10. निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन में प्राप्त परिणामों के विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि हाई स्कूल एव इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्र- छात्राओं के प्रत्येक समूह की मनोकांक्षाओं में सर्वत्र समरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक समूह धनात्मक मनोकांक्षाओं से आप्लावित होकर अपने परिसर के दबावों को सफलतापूर्वक दूर करने के प्रयासों में लीन हो इन धनात्मक मनोकांक्षाओं के बलवर्धन एवं आपूर्ति मे संलग्न दिखाई देता है। किसी भी समूह में ऋणात्मक मनोकाक्षाये विकसित होते दिखाई नहीं दें रही है। किन्हीं समूहों में ज्ञानार्जन, क्रीड़ा एवं प्रतिरक्षण की मनोकांक्षा मे .01 और .05 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर प्राप्त हुआ है। अतः प्रस्तुत अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि छात्र- छात्राओं की मनोकाक्षांओं मे कक्षागत आधार पर तो कुछ मनोकांक्षाओं में सार्थक अन्तर है किन्तु लिंगगत आधार पर सामान्यतः कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

11. शैक्षिक निहितार्थ

अध्ययन के प्राप्त परिणामों से यह स्पष्ट है कि इस विषय मे व्यवस्थित एवं व्यापक शोध की आवश्यकता है। इन परिणामों के आधार पर हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट कक्षाओं में अध्ययनरत छात्र- छात्राओं के अन्तर्मन की आकुलता की अधिकाधिक जानकारी कर उनके शुभेच्छु उनका समुचित मार्गदर्शन कर सकेगे जिससे उनका स्वस्थ समायोजन हो सकेगा, क्योंकि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही संभव है और यह उक्ति कि स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है, सार्थक हो सकेगी।

तालिका 3

हाई स्कूल एवं इंटरमीडिएट के छात्र- छात्राओं की मनोकांक्षाओं का परस्पर तुलनात्मक विवरण
(प्रत्येक समूह की संख्या=50)

क्रमांक	मनोकांक्षा	हाई स्कूल के छात्र- छात्राओं का प्राप्तांक प्रतिशत	इंटरमीडिएट के छात्र- छात्राओं का प्राप्तांक प्रतिशत	अन्तर	क्रान्तिक अनुपात
1	दैन्य	18 70	18.06	0.64	0.12
2.	अर्जन	21 17	11.50	0.67	0.15
3.	उपार्जन	9 33	9.34	0.01	0.00
4	सम्मिलन	6.44	8.00	1.56	0.43
5.	आक्रामकता	14.40	14.60	0.20	0.04
6	स्वत्व	13.67	18.33	4.66	0.90
7.	ज्ञानार्जन	27.00	30.00	3.00	0.47
8.	प्रतिकूलता	24.00	16 34	7 66	1 35
9.	प्रतिकार	1.67	5 67	4.00	1 50
10.	प्रतिरक्षण	29.00	25.00	4.00	0.64
11.	विनय	18.00	10.75	7.25	1.46
12.	प्रभुत्व	21.57	24.14	2.57	0.43
13	प्रदर्शन	8.80	8.60	0 20	0.05
14.	क्षति परिहार	11.00	9.67	1.33	0.31
15.	अन्तर्पीड़न	19.00	19.00	0.00	0.00
16.	पोषण	28.20	23.00	4.80	0.74
17.	सुव्यवस्था	5.50	10.00	4.50	1.19
18.	निष्क्रियता	13.20	13.57	0.37	0.09
19.	क्रीड़ा	20.00	19.00	1.00	0.18
20.	मान्यता	15.33	11.00	4.33	0.91
21.	परित्याग	14.40	14.60	0.20	0.04
22.	एकान्तता	24.50	27.00	2.50	0.57
23.	काम	10.78	10.44	0.34	0.08
24	परावलम्बन	15.75	11.13	4 62	0.99

* .05 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

** 01 विश्वास स्तर पर सार्थक अन्तर

संदर्भ

1. एनेस्टेसी, ए. : **साइकलाजिकल टेस्टिंग**, द्वितीय संस्करण, न्यूयार्क, द मैकमिलन कं०, 1961, पृष्ठ 52
2. बन्सल जे०पी० : **द स्टडी आफ नीड डिफरेन्स एमांग अरबन हाई स्कूल ब्वायज एण्ड गर्ल्स एट डिफरेंट लेवल्स आफ जनरल इन्टेलीजेंस एण्ड सोशियोइकनामिक स्टेटस**, पी-एच०डी० थीसिस (कुरूक्षेत्र यूनिवर्सिटी), 1977
3 ब्यूरो आफ साइकलाजी, यू० पी०, इलाहाबाद : **मैनुवल फारथिमेटिक अपरसेप्सन टेस्ट**, 1962
4. क्रानबैक, एल० जे० : **इसेन्शियल्ज आफ साइकलाजिकल टेस्टिंग** (द्वितीय संस्करण) टोक्यो, जान वेल्थर हिल, 1964, पृष्ठ 43
5 गैरेट, एच० इ० : **स्टैटिस्टिक्स इन साइकलाजी एण्ड एजूकेशन**, न्यूयार्क, लांगमैन ग्रीन एण्ड कं०, 1958
6. गिलफोर्ड, जे० पी० : **फन्डमेन्टल स्टैटिस्टिक्स इन साइकलाजी एण्ड एजूकेशन, एशियन स्टूडेन्ट्स एजूकेशन** (तृतीय संस्करण) टोक्यो, कोगाकुश कं०, 1956, पृष्ठ 173
7. मरे, एच० ए० : **एक्सप्लोरेशन्स इन परसनालिटी**, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1938, पृष्ठ 152-242
8. सारस्वत, एम० : **ए कम्परेटिव स्टडी आफ द परसनालिटी पैटर्न्स आफ एडोलेसेन्ट ब्वाएज एण्ड गर्ल्स**, पी०एच०डी० थीसिस, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1964
9. श्रीवास्तव, जे०पी० : **ए सिन्थेटिक एप्रोच टू द प्राब्लम्स आफ परसनालिटी**, पी- एच०डी० थीसिस, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1953
10. श्रीवास्तव, एस०के० · "ए स्टडी आफ सेक्स डिफरेन्सेज इन डिफरेन्ट टाइप आफ नीड्स एमांग कालिज- गोइंग स्टूडेन्ट्स", **परस्पेक्टिव्स इन साइकलाजिकल रिसर्चेज**, वाल्यूम 4, नवम्बर 2, 1981.

शैक्षिक नवाचार एवं भूगोल शिक्षण

अमरनाथ दत्त गिरि

बी 4/56 बी, हनुमानघाट
वाराणसी 221001

चूँकि हम 83 प्रतिशत देखने द्वारा एवं 1.1 प्रतिशत श्रवण द्वारा (कुल 84.1%) सीखते हैं तथा 50 प्रतिशत जो कुछ हम देखते हैं और सुनते हैं उसे याद रख पाते हैं और यही प्रतिशत कहने और करने की क्रियाओं को भी सम्मिलित कर लेने पर 90 प्रतिशत तक पहुँच जाता है, अतः आज के ज्ञान एवं जनसंख्या विस्फोट के युग में हम शैक्षिक नवाचार एवं श्रव्य दृश्य नवाचारिक तकनीकी उपकरणों के महत्व को सफलतापूर्वक भूगोल शिक्षण के लिए अस्वीकृत नही कर सकते हैं।

"नवाचार" का शाब्दिक अर्थ किसी नवीनता या प्रचलित विधि अथवा वस्तु में परिवर्तन को स्वीकार करना या किसी नवीन प्रचलन को मान्यता देना है। "नव" शब्द का तात्पर्य नवीन या नया तथा "आचार" का अर्थ व्यवहार या आचरण योग्य विचार से है। अतः शाब्दिक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि "नवाचार" ऐसा कोई नया व्यवहार, विचार, तथ्य या प्रणाली है जिसका वास्तविक एवं व्यावहारिक उपयोग करना संभव हो सके निश्चित रूप से हम किसी पूर्ववर्ती प्रणाली, तथ्य या विचार को विस्थापित या प्रतिस्थापित करने की बात हम तभी सोचते हैं जब उसके कोई कमी या त्रुटि हो एवं उसके स्थान पर प्रयुक्त होने वाले विचार या तथ्य उस कमी को दूर कर सकें एवं गुणात्मक दृष्टि से उससे बेहतर हों, अतः नवाचार में नवीनता, उपयोगिता, व्यावहारिकता, श्रेष्ठता जैसी कई विशेषताओं का समावेश होना आवश्यक है। इसे व्यक्ति जानबूझकर नियोजित ढंग से प्रयोग में लाता है एवं इससे प्रतिफल प्राप्त करने की आशा भी करता है। शिक्षा एवं शिक्षण के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले नवाचारों को हम "शैक्षिक नवाचार" की संज्ञा देते हैं, जो शैक्षिक तकनीकी की देन है। शिक्षा एक ऐसी गत्यात्मक प्रक्रिया है जो अधिगमकर्ताओं के व्यवहार में कुछ पूर्व नियोजित एवं निर्धारित परिवर्तन उत्पन्न करने का प्रयास करती है। इसके लिए आज अनेक नवाचारों का उपयोग शैक्षिक जगत् में किया जा रहा है। यदि किसी नवीन परिवर्तन को प्रयोग में लाना हो या अध्ययन अध्यापन परिस्थिति से संबंधित किसी भी कारक में कोई परिवर्तन किया गया हो तो उस परिवर्तन के साथ अनुकूलन के लिए किसी नवाचार को प्रयोग में लाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि शैक्षिक उद्देश्यों में कोई परिवर्तन हो, तकनीकी विकास और उससे उत्पन्न सामाजिक आवश्यकातों के परिणामस्वरूप शिक्षा के प्रारूप में कोई संशोधन या परिमार्जन हो, जनसंख्या में विस्फोट हेतु उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक आवश्यकताओं में वृद्धि के अनुसार संसाधन की व्यवस्था करनी हो, शिक्षा की अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकरण के माध्यम से असाक्षरता एवं अशिक्षा के प्रभाव को दूर करना हो, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास हेतु जनसंचार एवं यातायात तथा परिवहन के साधनों में उन्नतिजन्य जनसंख्या की गतिशीलता तथा आधुनिकीकरण के प्रभाव को स्वीकार करना हो,

पाठ्यक्रम एवं शिक्षण तकनीकी में, ज्ञान के विस्फोट तथा औद्योगीकरण के कारण विशिष्टीकरण में वृद्धि तथा स्वचालित यंत्रों व इलेक्ट्रानिक उपकरणों के निर्माण के परिणामस्वरूप जो परिवर्तन करना अनिवार्य माना गया हो, उन सभी कारणों से आज हमें ऐसा लगना स्वाभाविक ही है कि शैक्षिक नवाचारों के अभाव में किसी भी विषय का शिक्षण सफलता के साथ संभव नहीं है चाहे वह विषय गणित हो या भूगोल, भाषा हो या विज्ञान।

इन आवश्यकताओं को देखते हुए यह जानना जरूरी है कि हम नवाचार को कहां से प्राप्त कर सकते है? मान लीजिए कोई शोधकर्ता, शिक्षाविद् या शिक्षा के विद्वान के द्वारा किसी नवीन विचार, तकनीकी या प्रणाली का एकबार प्रायोगिक तौर पर कहीं उपयोग किया गया। यदि वह नवाचार सफल पाया गया तो अन्य व्यक्ति, संस्था एवं उपयोगिता के बारे में पारस्परिक अन्तःक्रिया एवं वार्तालाप के माध्यम से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम सामाजिक अन्तःक्रियात्मक नवाचार कहते हैं। इसके विपरीत हम स्वयं भी अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी वैज्ञानिक या व्यावहारिक समस्या के समाधान हेतु किसी नवाचार का चयन एवं उपयोग कर सकते हैं, चाहे यह उपयोग वैयक्तिक स्तर पर हो या संस्थागत स्तर पर। इन्हें हम समस्या समाधानात्मक नवाचार कहते हैं।

शिक्षा मानव के लिए है और मानव एक ऐसा संसाधन है जो चेतन है एवं परस्पर शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयामों में निश्चित रूप से एक दूसरे से भिन्न है। यदि यह भिन्नता एक सीमित अंश तक ही हो तो शिक्षा पद्धति, तकनीकी एवं उपागमों मे कोई विशेष अन्तर लाने की आवश्यकता नही पड़ती, परन्तु यदि यह अन्तर अत्यधिक हो अर्थात् कई अधिगमकर्ता अन्यों से इतना अधिक भिन्न हों कि उनके लिए सामान्य अध्ययन-अध्यापन परिस्थिति एव वातावरण के साथ समायोजन करना संभव न हो, तो निश्चित रूप से शैक्षिक व्यवस्था में उनके लिए कुछ विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है एवं विशिष्ट नवाचारों का भी चयन करना पडता है।

भूगोल एक ऐसा विज्ञान है जिसमें प्रायः तथ्यों, घटनाओं एवं प्राकृतिक कारकों के बारे में सही ज्ञान स्वतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जेम्स फेयरग्रीव के अनुसार भूगोल का अधिकाधिक अध्ययन मस्तिष्क के बजाय पैरों के द्वारा किया जा सकता है जिससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रियग्राह्य स्वयं निरीक्षित अध्ययन भूगोल शिक्षण के लिए एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है ताकि छात्रों मे खोज की भावना का विकास किया जा सके। यह कार्य भूगोल- कक्षा के बाहर जाकर ही संभव हो पाता है, परन्तु कक्षाकक्ष परिस्थितियों में जब भौगोलिक तथ्य संकल्पना या घटनाओं का सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान किया जाता है उस समय इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु एवं ज्ञान को अधिकाधिक मात्रा में इन्द्रियग्राह्य बनाने के लिए श्रव्यदृश्य सामग्रियों का उपयोग किया जाता है।

इसके अन्तर्गत माध्यम और विधि दोनों ही सम्मिलित हैं। शैक्षिक नवाचारों का अनुप्रयोग इस क्षेत्र मे भी पर्याप्त मात्रा में आजकल किया जा रहा है ताकि सैद्धान्तिक भूगोल शिक्षण को ज्यादा सरल, आकर्षक एवं इन्द्रिग्राह्य बनाया जा सके।

माध्यम के अन्तर्गत फिल्म पट्टी, श्रव्यटेप, वीडियो फिल्म आदि आते हैं जबकि अभिक्रमित अनुदेशन, कम्प्यूटर सह अनुदेशन, शैक्षिक टेलीविजन इत्यादि विधि या प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं। ये सभी सामग्रियॉ जो नवाचारिक हैं, प्रत्यक्षीकरण, अवबोध वृद्धि, अधिगम स्थानान्तरण, पुनर्बलन एवं ज्ञान धारण इत्यादि में सहायक होती हैं।

भूगोल शिक्षण एवं श्रव्य सामग्रियाँ

बहुत सारा ज्ञान हम सुनकर या कानों के द्वारा ग्रहण करते है। श्रव्य उपकरण वर्ग में वे सहायक सामग्रियाँ आती हैं जो श्रवणेन्द्रिय के लिए उत्तेजन प्रस्तुत करते हुए छात्रों को सीखने में सहायता प्रदान करती हैं, जैसे रेडियो, रेकार्डप्लेयर, टेप रिकार्डर इत्यादि। रेडियो के माध्यम से किसी अच्छे विषय पर भूगोल के किसी विद्वान का भाषण दुनिया के किसी भी भाग से सुना जा सकता है। टेप रिकार्डर या कैसेट टेप रिकार्डर द्वारा इच्छित वार्तालाप, संवाद, शब्दावली, भाषण इत्यादि को रिकार्ड किया जा सकता है एवं आवश्यकतानुसार कक्षा में प्रस्तुत किया जा सकता है। आदर्श पाठ एवं भूगोल शिक्षण कौशलों के प्रदर्शन पाठ भी इसमें रिकार्ड किये जा सकते हैं। इसके माध्यम से भूगोल शिक्षण के ज्ञानात्मक, व्यावहारिक तथा भावात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति संभव है। जैसे ज्ञानात्मक उद्देश्यों में

- विद्यार्थी विभिन्न भौगोलिक नियम उपनियम इत्यादि को समझ सकेंगे।
- वे विदेशी भाषा, जंगली जानवर, समुद्री लहरों की ध्वनियों या अपरिचित शब्दावलियों को पहचान सकेंगे
- वे राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना संबंधी विद्वानों के विचारों से परिचित हो सकेंगे

इसी प्रकार व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इनका प्रयोग शाब्दिक कौशलों को सिखाने के लिए किया जा सकता है, जैसे-

- दिए गए निर्देशों के अनुसार विद्यार्थी कार्य करते हुए भौगोलिक प्रतिरूप, चित्र इत्यादि बना सकेंगे।
- वे शब्दों के सही उच्चारण का अभ्यास कर सकेंगे।

इसी प्रकार भावात्मक उद्देश्य मे छात्रों के भावों एवं अभिवृत्तियों को प्रभावित करने के लिए ध्वनि प्रभावों का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे - समुद्री लहरों के चित्र के साथ उनकी ध्वनि या मरूस्थलीय क्षेत्रों में पवन प्रवाह की साँय- साँय ध्वनि द्वारा उनकी अनुभूति को प्रभावित किया जा सकता है।

भूगोल शिक्षण एवं दृश्य सामग्रियाँ

दृश्य सामग्रियो में वे सामग्रियाँ आती हैं जिनके द्वारा छात्र ऑखों के माध्यम से ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं। भूगोल शिक्षण के क्षेत्र श्याम पट्ट, मानचित्र, चित्र, आरेख या रेखाचित्र, ग्लोब, एटलस, चार्ट, ग्राफ, प्रतिरूप, नमूना इत्यादि साधन पर्याप्त संख्या में प्राचीन काल से ही प्रयोग में लाए जाते हैं। इनके अलावा शैक्षिक तकनीकी एवं नवाचार के अनुप्रयोग के साथ ही कुछ अन्य उपकरण एवं साधन भी आज इसी श्रेणी में जोड़ दिए गए है जिनमें से स्टीरियो स्कोप, एपिस्कोप, एपिडाइस्कोप, मैजिक लैन्टर्न या स्लाइट प्रोजेक्टर इत्यादि प्रमुख हैं। इनके माध्यम से भी भूगोल शिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति संभव है।

ज्ञानात्मक उद्देश्य : इन साधनों के उपयोग से निम्न ज्ञानात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति होती है :

- विद्यार्थी अपरिचित स्थलकृतियों, जलवायु प्रदेशों, वहाँ के निवासियों, उनके गृहों या भवनों के प्रकार इत्यादि को पहचान सकेगे।
- वे विभिन्न नवीन दृश्यों या भूतदृश्यों की विशेषताओं में तुलना करते हुए, अन्तर एवं समानताओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
- छात्र विभिन्न भौगोलिक घटनाओं या बाह्य एवं आन्तरिक भूशक्तियों के प्रभाव या क्रियाशीलता को देखकर समझ सकेगे, इत्यादि।

मनोपेशीय उद्देश्य : इन शिक्षण सहायक सामग्रियों का व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए उपयोग विशेषकर किसी कौशल या भौतिक घटना जैसे वलित या भ्रंशोत्थ पर्वतों की उत्पत्ति या कूप का निर्माण इत्यादि का प्रदर्शन श्रेणी ट्रान्सपेरेन्सी चित्रों या श्रेणीक्रमित स्लाइडों के माध्यम से संभव है।

भावात्मक उद्देश्य : प्राप्ति मे इन साधनों का विशेष

योगदान न होते हुए भी कुछ भावों जैसे पर्वत शिखरों की तुलनात्मक एवं सर्वोच्च ऊँचाई, समुद्री गर्तों की गहराई इत्यादि के विकास इसके माध्यम से संभव है।

भूगोल शिक्षण एवं श्रव्य- दृश्य उपकरण

इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी उपादान सम्मिलित किए जा सकते हैं जिनमें छात्र अपनी कान और आँख, श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही इन्द्रियों की शक्ति का उपयोग साथ- साथ करते हैं। इस वर्ग में, चलचित्र, टेलीविजन, क्लोज्ड सर्किट टेलीविजन, वीडियो फिल्म इत्यादि आते हैं। ये सर्वाधिक चर्चित एवं उपयोगी परन्तु मूल्यवान साधन हैं।

ज्ञानात्मक उद्देश्य : इन साधनों के उपयोग से कई ज्ञानात्मक शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति संभव है, जैसे -

– विभिन्न भौगोलिक तथ्य, नियम, संकल्पना इत्यादि को विद्यार्थी पहचान सकेंगे एवं उनमे अन्तर या भिन्नता को स्पष्ट कर सकेंगे।

– वे सीखे हुए ज्ञान का अनुप्रयोग दिए गए निर्देशों के अनुसार कर सकेंगे। वे विभिन्न भौगोलिक चित्र, चार्ट, प्रतिरूप इत्यादि तैयार करने की विधि से परिचित हो सकेंगे, इत्यादि।

व्यावहारिक उद्देश्य : व्यावहारिक उद्देश्य इस प्रकार हैं:

– भूगोल के विद्यार्थी विभिन्न उपकरणों जैसे जलवायु संबंधी, सर्वेक्षण या मानचित्र संबंधी उपकरणों को चलाना, ठीक करना, इत्यादि सीख सकेंगे।

– वे विभिन्न चित्र इत्यादि स्वयं तैयार कर सकेंगे।

– वे अपने कार्य के बारे में तत्काल प्रतिपुष्टि प्राप्त कर सकेंगे, इत्यादि।

भावात्मक उद्देश्य : निम्न भावात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति इनसे संभव है :

– विद्यार्थी राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्र एवं प्रान्त तथा वहाँ के निवासियों से परिचित होकर उनके प्रति आदर एवं सम्मानपूर्ण सौहार्द्र की भावना को विकसित कर सकेंगे।

– वे सम्पूर्ण विश्व मानव के निवास स्थल के रूप में एक ही इकाई मात्र है, एवं विभिन्न क्षेत्र के निवासी एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित ढंग से निर्भर हैं- इस भाव को समझ सकेंगे।

– उनमे पर्यटन की इच्छा जागृत होगी तथा उनमे प्राकृतिक सौन्दर्य का सच्चा ज्ञान एवं उदार दृष्टिकोण का विकास होगा, इत्यादि।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भूगोल शिक्षण के क्षेत्र मे विशेषकर श्रव्य दृश्य (शैक्षिक) तकनीकी के सन्दर्भ में शैक्षिक नवाचार का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसके अभाव में भूगोल एक व्यावसायिक विज्ञान से पुनः सैद्धान्तिक ज्ञान का रूप धारण कर लेगा, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

चूँकि हम 83 प्रतिशत देखने द्वारा एवं 1.1 प्रतिशत श्रवण द्वारा (कुल 84.1%) सीखते हैं तथा 50 प्रतिशत जो कुछ हम देखते हैं और सुनते हैं उसे याद रख पाते हैं और यही प्रतिशत कहने और करने की क्रियाओं को भी सम्मिलित कर लेने पर 90 प्रतिशत तक पहुँच जाता है, अतः आज के ज्ञान एवं जनसंख्या विस्फोट के युग में हम शैक्षिक नवाचार एवं श्रव्य दृश्य नवाचारिक तकनीकी उपकरणों के महत्व को सफलतापूर्वक भूगोल शिक्षण के लिए अस्वीकृत नहीं कर सकते।

संदर्भ

फेयरग्रीव, जे० (1937) : **जियोग्राफी इन स्कूल्स**, यूनिवर्सिटी ऑफ लंदन प्रेस लि०, वारविक लेन, सी- 4,

श्रीवास्तव, एस० एस० (1978) : **शिक्षा में नवाचार एवं आधुनिक प्रवृत्तियां,** हरप्रसाद भार्गव, आगरा।

वर्मा, जे० पी० (1975) : **भूगोल अध्यापन,** विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

बाल मजदूरों हेतु शैक्षिक आव्यूह: राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय विवेचन

के० सी० वशिष्ठ

शिक्षा संकाय
दयालबाग ऐजूकेशनल इंस्टीट्यूट
डीम्ड वि० वि०, दयालबाग, आगरा 282005

वर्तमान स्थिति से जूझने के लिये शिक्षा का व्यापक प्रचार- प्रसार तथा ऐसे कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान करना है जिनसे इस समस्या की जड़ों पर तीव्र प्रहार किया जा सके। इस दिशा में मेक्सिको एवं ब्राजील ने कुछ अभिन्न कार्यक्रमों को अपनाया है तथा उसके सार्थक परिणाम भी सामने आये हैं। इसमें समुदाय की भूमिका सर्वाधिक प्रभावी रहती है, यह आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक आर्थिक संसाधनों की पूर्ति स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से करके इस समस्या को चुनौती दे रहे हैं। वास्तव में यह एक अनुकरणीय अनुभव है। इसी प्रकार फिलीपीन्स की स्मोकी माउन्टेन नामक स्वैच्छिक संस्था निपुण शिक्षकों, माता- पिता, चिकित्सकों के समूह बनाकर ऐसी समस्या का मौलिक समाधान प्रस्तुत कर रही है, यद्यपि इसने अपना कार्य 1986 के दशक में ही प्रारंभ किया है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत ऐसा प्रावधान किया गया था कि प्रत्येक राज्य अपने 14 वर्ष की आयु तक के बालकों को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रदान करेगा। यह कार्य विभिन्न राज्यों द्वारा लगभग 1960 तक पूरा हो जायेगा, ऐसी अवधारणा व्यक्त की गयी थी। किन्तु लगभग 41 वर्ष पश्चात् जब हम पुनः विहंगावलोकन करते है, तो ज्ञात होता है कि यह उद्देश्य अब और भी अधिक दूर होता चला जा रहा है, क्योंकि यह समस्या अब इतनी प्रखर हो चली है कि इसके समाधान का मार्ग अस्पष्ट हो चला है, तथा इसकी प्राप्ति की सामाजिक, राजनीतिक इच्छाएँ मृतप्राय हो चुकी हैं।

यद्यपि इन दिनों भारतीय विद्यालयों मे जाने वाले बालक एवं बालिकाओं की दर में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है, क्योंकि 1981-82 में 83.7 प्रतिशत बाल- बालिकाएं विद्यालयों में जा रहे थे, अब यह प्रतिशत बालकों के संदर्भ में 99 4 तथा बालिकाओं के संदर्भ में 66.4 हो गया है। किन्तु प्रतिवर्ष प्राथमिक विद्यालय को मध्य सत्र में छोड़ने वालों की संख्या के आंकड़ों के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्राथमिक विद्यालयों में जाने वाले छात्रों का केवल 30 प्रतिशत ही 11 वर्ष की आयु तक पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण कर पाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनसे सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के खोखलेपन का आभास हो जाता है, जैसे :

1. वे कौन सी बाल जनसंख्या है जो विद्यालयों मे पंजीकृत नहीं होती है ?

2 वह कौन से बालक हैं, जो मध्य सत्र मे ही विद्यालय से शीघ्र ही पलायन कर जाते हैं ?

क्योंकि ये बालक पंजीकृत होते हैं, अतः ऐसा मानना तो असंभव है कि वे शैक्षणिक सुविधाओं से वंचित हैं, परन्तु फिर कौन सा ऐसा कारण है कि ये बालक विद्यालय

से भाग खड़े होते हैं ? निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर अन्यत्र खोजना पड़ेगा । इन कारणों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित शंकाएं प्रकट की जा सकती हैं :

1. बालक अन्यत्र किसी कार्य में लगा हुआ है,
2. बालक मेहनत मजदूरी करके परिवार की आर्थिक मदद कर रहा है,
3. बालक अपने स्वयं के भरण- पोषण का उत्तरदायित्व स्वयं ही वहन कर रहा है, जबकि उसके माता- पिता ऐसी स्थिति में नहीं हैं,
4 यह भी हो सकता है कि जो प्राथमिक विद्यालय हैं वे उसके अपने पारिवारिक परिवेश के विपरीत मूल्यों एवं अभिवृत्तियों की शिक्षा दे रहे हों, जो कि उसके अस्तित्व के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता हो ।
5. छात्र, भय, प्रतिबद्धता तथा कठोर वातावरण को स्वीकार न कर पाने से पलायन कर रहा हो, आदि।

भारतीय परिवेश में कनबर्गी (1988) ने एक शोध गवेषणा के आधार पर कुछ चौकाने वाले तथ्य प्रकट किये हैं। उनके अनुसार भारतीय समाज में बालक को "आर्थिक पूँजी" का दर्जा प्रदान किया गया है अतः जितनी अधिक संतानोत्पत्ति होगी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उतनी ही मजबूत मानी जायेगी। उन्होंने बालकों द्वारा किये जाने वाले कार्य के घंटों तथा स्कूल में पढ़ने हेतु ठहरने वाले घंटों के तुलनात्मक सर्वेक्षण द्वारा स्पष्ट किया है कि बालकों पर कार्य हेतु बढ़ता हुआ सामाजिक, आर्थिक दबाव, उन्हे विद्यालय से वंचित ही नहीं करता किन्तु बालक की आयु में जैसे- जैसे वृद्धि होती है, वे अनेक कुशलताओं में दक्षता हासिल कर लेते हैं, जिससे वे अपने को श्रेष्ठ कार्य उत्पादक के रूप में स्थापित करके, शैक्षणिक परिधि से हमेशा के लिए बाहर चले जाते हैं। कनबर्गी के आंकड़े जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, वे निम्नलिखित हैं (सारिणी 1.1)।

हमारे देश में कार्यरत बाल मजदूरों की सही जनसंख्या स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि विभिन्न राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों में मतैक्य नहीं है। भारतीय जनसंख्या गणना के 1961 के आंकड़ों में यह 145 लाख थी, जो कि 1971 की जनगणना में नीचे गिरकर 107 लाख हो गयी किन्तु पुनः यह 1981 में बढ़कर 112 लाख तक पहुँच गयी थी। इस जनसंख्या में से 90 प्रतिशत बाल मजदूर गाँवों में रहते हैं। किन्तु "नेशनल सैम्पल सर्वे" (एन० एस० एस०) के 32वें खंड में बाल मजदूरों की जनसंख्या 74 लाख उद्धृत की गयी है। इसी प्रकार एक अन्य राष्ट्रीय स्तर के अभिकरण "ओपरेशन्स रिसर्च ग्रुप" (ओ० आर० जी०) ने 440 लाख बाल मजदूरों की संख्या 1983 में बताई है जो कि 1985 तक बढ़कर 502 लाख तक पहुँच गयी। इन विभिन्न अभिकरणों में प्राप्त अंतर का कारण है, राष्ट्रीय स्तर पर सम्प्रेषण का अभाव, बाल मजदूर के प्रत्यय की अलग- अलग परिभाषाएं तथा उसे ज्ञात करने की अन्य- अन्य विधाएं।

सारिणी 1.1

बालकों की आयुवृद्धि एवं विद्यालय उपस्थिति में व्युत्क्रम संबंध (कनबर्गी, 1988)

आयु वर्ग	बालक	बालिकाएं
5-7 वर्ष	78%	59%
12-14 वर्ष	40%	23%

सारिणी 1.2

भारत में विभिन्न व्यवसायों के संदर्भ में बाल मजदूरों की परिमाणात्मक स्थिति

	कार्य श्रेणी	1971				1981			
		ग्रामीण		नगरीय		ग्रामीण		नगरीय	
		बालक	बालिकाएं	बालक	बालिकाएं	बालक	बालिकाएं	बालक	बालिकाएं
1	फसल उत्पादन	42.41	27.58	6 46	3.32	43.9	36.8	6 1	5.3
2	कृषि मजदूर	40.24	57.50	12 41	22 37	39 9	5.16	12.2	23.2
3	पशु वानिकी, मत्स्य उद्योग, वृक्षारोपण आदि	9.84	5.14	4.45	2 43	7.8	3 3	3.7	1.8
4.	खनन एवं पत्थर खदानें	0 17	0 28	0.40	0.81	0 2	0 2	0 3	0.4
5.	उत्पादन प्रोसेसिंग तथा सर्विसिंग एवं मरम्मत कार्य आदि								
(अ)	गृह कार्य	2 07	4.06	8.02	17.96	2.5	3.8	8.0	18.2
(ब)	गृह कार्यों से पृथक औद्योगिक कार्य आदि	1.27	1.80	24 37	15.50	2. 4	2.1	31.1	20.0
6.	निर्माण	0.34	0 42	2 94	3.69	0.4	0.5	3.3	3.2
7.	व्यापार एवं वाणिज्य	1.01	0.33	20.40	3.01	1.3	0.4	19.0	2.9
8.	यातायात, संग्रह कार्य सम्प्रेषण आदि	0.14	0.09	4.13	2.09	0.1	0.00	3.0	0.4
9.	अन्य सेवायें	2 51	2.80	16.42	28.82	1 5	1 3	13.3	24.6

स्रोत . 1. भारत की जनगणना 1971 एवं 1981.

2 भारत में बालक : एक सांख्यिकीय पार्श्व चित्र,समाजएवंमहिला कल्याण मंत्रालय, 1985.

"ओ० आर० जी०" के अनुसार सम्पूर्ण जनसंख्या का 26.2% मात्र 5-15 वर्ष की आयु के बालकों का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि 19 करोड़ 65 लाख के बराबर हैं। ऐसा माना जाता है कि भारतीय जनसंख्या का लगभग आधा भाग गरीबी रेखा के नीचे निवास करता है। अतः लगभग 9 करोड़ 82 लाख बालक इसी जनसंख्या के भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार यह कहना कि भारत में केवल 50 लाख बालक ही गरीबी रेखा के नीचे रहकर बाल मजदूरों के रूप में अपने स्वत्व की रक्षा हेतु संघर्षरत हैं, अनुपयुक्त जान पड़ता है। प्राप्त आंकड़ों की विसंगतियों को समाप्त करने हेतु यह समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि इन बाल मजदूरों की संख्या 90 लाख और 1 करोड़ के बीच है, तथा ये आंकड़े विद्यालय परिधि से बाहर रहने वाले छात्रों की जनसंख्या के संदर्भ में भी युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कार्य करने के घंटे बालकों को प्राथमिक शिक्षा की परिधि से बाहर करते हैं।

वर्तमान परिस्थितियों में इन बाल मजदूरों का एक बड़ा भाग गांवों में अपने माता- पिता के साथ कृषि कार्यों में जुटा हुआ है तथा अन्य कुशल- अकुशल कार्यों मे लगे बाल मजदूर शहरी एवं अर्द्धशहरी परिवेश से आते हैं। नंगिआ (1988) की अवधारणा है कि यदि यही शहरीकरण की दर बनी रही तो सन् 2000 तक भारत का 1/3 भाग शहरीकरण की चपेट में आ जायेगा, जिसमें से लगभग 31 प्रतिशत जनसंख्या "स्लम" में रहने लगेगी और उनमें 1/3 भाग 15 वर्ष की आयु से कम वाले बच्चों का होगा।

इसके अतिरिक्त दिनों- दिन ग्रामीण परिवारों द्वारा गाँव छोड़कर शहर में बसने की लिप्सा, शहरी संसाधनों पर अतिरिक्त वृहद् दबाव, सुविधाओं के वियोजन में कमी, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का ह्रास, असंतुलित पर्यावर्णीय प्रक्रम, मादक- द्रव्यों का बढ़ता प्रयोग, तथा बढ़ती जनसंख्या सम्पूर्ण वस्तुस्थिति को अत्यधिक भयावह बना देती है।

बाल मजदूर शिक्षा हेतु भारतीय आव्यूह

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में अब यह अत्यधिक आवश्यक प्रतीत होता है कि इन बाल मजदूरों की इस भयावह स्थिति को नियंत्रित करने की यथाशीघ्र कोशिश की जानी चाहिए। यद्यपि केन्द्र एवं राज्य सरकारे इस दिशा मे जाग्रत तो हुई हैं, किन्तु अभी भी अधिकाधिक कार्य स्वैच्छिक संगठनों द्वारा ही अपेक्षित हैं। क्योंकि सरकार ने इन बाल- मजदूरों हेतु संवैधानिक कानूनों का निर्माण तो किया है, किन्तु उन्हें इस स्थिति से बचाने के सामाजिक- शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक विकल्पों को नजरअदाज कर दिया है। भारतीय परिवेश मे जो संस्थाएं इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं, वे प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं -

1. रैगपिकर्स ऐजूकेशन एंड डेवलेपमेंट सोसायटी, बैंगलोर (आर० ई० डी० एस०)।
2 दी कन्सर्ड फॉर वर्किंग चिल्ड्रेन (सी० डब्ल्यू० सी०) बैंगलोर।
3. जया राजेन्द्र, रैगपिकर्स प्रोजेक्ट ऑफ कर्नाटका स्टेट कांउसिल फॉर चाइल्ड वेलफेअर (के० एस० सी० सी० डब्ल्यू०) बैंगलोर।
4 बोस्को युवा केन्द्र, बैंगलोर (बोस्को)।
5 इंस्टीट्यूट ऑफ साइकोलोजीकल एण्ड एजूकेशनल रिसर्च, कलकत्ता।
6. बटरफ्लाईज, देहली।
7. प्रभातारा, देहली।
8. तृप्तूर चाइल्ड लेबरर्स वेलफेअर, प्रोजेक्ट, तृप्तूर, तमिलनाडू।
9. सोशल वर्क एण्ड रिसर्च सेंटर, कोरापूट, उड़ीसा।
10. चेतना विकास, महाराष्ट्र।
11. सी० ई० डब्ल्यू० ए० (सेवा), अहमदाबाद।

सारिणी 1.3

कार्यरत बाल मजदूर एवं अकार्यरत बालक- बालिकाएं जो विद्यालयों में प्रवेश ले चुके हैं, अथवा विद्यालयों से बाहर हैं

आयु समूह		कुल बालक		कार्यरत		अकार्यरत	
		पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
विद्यालय जाने वाले							
कुल	6-10	55 27	38.46	0. 13	0. 06	55 14	38.40
	11-13	63.81	38.68	0. 58	0 19	63.23	38.49
ग्रामीण	6-10	50. 55	31.31	0. 16	0. 07	50. 39	31 29
	11-13	59 52	63 00	0. 72	0. 04	58 80	29. 88
शहरी	6-10	72 74	64.73	0 01	0 01	72.73	67.04
	11-13 प्रदत्त उपलब्ध नहीं है।						
विद्यालय न जाने वाले							
कुल	6-10	44 73	61 54	2.45	2.05	42 28	59. 49
	11-13	36 20	61.31	17.16	13 63	19. 04	47.68
ग्रामीण	6-10	49.45	68-68	2.85	2.48	46 60	66 20
	11-13	40, 48	69 87	20 22	16.82	20. 26	53 05
शहरी	6-10	27.26	35.26	0 96	0. 44	26.30	34.82
	11-13	21-74	32 94	6 85	3.04	14.89	29. 90

उपर्युक्त सगठनों के संदर्भ में नलिनी जुनिजा (1990) ने व्यापक अध्ययन किये, जिनके आधार पर इन केन्द्रों की योजनाओं को संक्षेप में अग्रपृष्ठ पर सारिणी रूप मे प्रस्तुत कर रहे हैं।

बाल मजदूर : अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य

बाल मजदूरों की समस्या भारत में ही भयावह है, ऐसा नहीं है, यह एक अंतर्राष्ट्रीय समस्या है किन्तु अर्द्धविकसित और विकासशील देशों में यह समस्या अत्यधिक गंभीर हो चुकी है। [इन्टरनेशनल लेबर ऑर्गनाइजेशन[(आई० एल० ओ०) के आंकड़ों के आधार पर 1980 मे ऐसे बालकों की जनसंख्या लगभग 4 करोड़ 80 लाख थी। ऐसा अनुमान है कि 10-14 वर्ष के बालकों में से लगभग 18 प्रतिशत बालक किसी न किसी प्रकार के कार्यों मे संलग्न रहते हैं। किंतु विकासशील राष्ट्रों मे यह

सारिणी 1.4
भारत में बाल मजदूरों हेतु कार्यरत संगठन

	संगठन	सचालित कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	अवधि/समय
1.	आई० पी० ई० आर०, कलकत्ता	1. 36 अवकाशकालिक विद्यालय 2 गृह शिक्षण 3 चिकित्सीय परामर्श एवं देखभाल 4 पोषण परामर्श	शहरी एवं असंगठित बाल मजदूर	शनिवार, दोपहर रविवार प्रातः गृह दर्शन (सप्ताह मे दो बार)
2.	जया- राजेन्द्र प्रोजेक्ट ऑफ कर्नाटका स्टेट कांउसिल फॉर चाइल्ड वैलफेयर बैगलोर	1 साक्षरता केन्द्र 2 मनोरंजन केन्द्र 3 व्यावसायिक शिक्षण 4 पोषण परामर्श 5 चिकित्सीय परामर्श	रैगपिकर्स एव अन्य बाल मजदूर	प्रत्येक दिन अपरान्ह् 3 00 बजे
3	"बोस्को" युवा केन्द्र, बैगलोर	1 नुक्कड सम्पर्क स्थल एवं शिक्षा 2 रात्रि निवास 3 अध्ययन केन्द्र 4 व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र	रैगपिकर्स तथा अन्य बाल मजदूर	खुले घर योजना सायकालिक कक्षाएं प्रातःकालिक कक्षाये जिन्हे छात्रवृत्ति दी जाती है।
4.	"रेड्स" बैगलोर	1 नुक्कड सम्पर्क स्थल 2 नुक्कड साक्षरता स्थल 3. व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं स्वास्थ्य तथा कानूनी सुरक्षा	रैगपिकर्स (बालक केवल)	साक्षरता कक्षाएं, व्यावसायिक कक्षाएं प्रातःकालीन अपरान्ह कक्षाएं छात्र वृत्ति प्राप्त सेवा के छात्रों हेतु

	संगठन	संचालित कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	अवधि/समय
5	कन्सर्ड फॉर वर्किंग चिल्ड्रेन, बैंगलोर।	14 केन्द्र शैक्षिक मनोरजन, पोषण, चिकित्सा, सामान्य चेतना सबधित गतिविधियां	कार्यरत् बालक एव बालिकाए असंगठित क्षेत्र के रैगपिकर्स	अपरान्ह 1-5 बजे तक
6	"सेवा" अहमदाबाद।	साक्षरता, मनोरजन, पोषण, शिक्षा संबधी कार्यों का विकास करना	मजदूर बालिकाएं जो असंगठित शहरी क्षेत्र में कार्यरत है	अपरान्ह चार घंटे प्रतिदिन
7	चाइल्ड लेबरर्स बेलफेअर प्रोजेक्ट, तृप्तूर (तमिलनाडु)।	मनोरजनात्मक, सांस्कृतिक, क्रियात्मक साक्षरता एवं पोषण ज्ञान	13 व्यवसायों में कार्यरत मजदूर बालक	सायं 5 बजे से 7 45 तक प्रतिदिन
8	बटरफ्लाईज, देहली।	नुक्कड सम्पर्क स्थल, मनोरंजन तथा सृजनात्मक गतिविधियाँ	शहरी कार्यरत बालक	1-3 बजे तक प्रतिदिन
9	प्रभातारा, देहली।	क्रियात्मक साक्षरता एवं मनोरंजनात्मक केन्द्र	कार्यरत बालक मजदूर	1-4.00 बजे तक प्रतिदिन

सारिणी 1.5

ब्राजील में कार्यरत बाल मजदूरों हेतु संगठन

	कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	उद्देश्य	क्रियाएं
1.	ऐजूकेशनल वर्कशॉप बोआ नोवा ।	1 6-14 आयुवर्ग के स्ट्रीट बाल मजदूर	1 अर्द्धकालिक सेवाएं प्रदान करना । 2 बालकों को आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करना ।	1. बालकों की रुचि का कार्य प्रदान किया जाता है । 2. प्रातः एवं सायं का भोजन प्रदान करना । 3. बालकों को 8 घंटे कार्यों में व्यस्त रखना ।
2	सोशिओ ऐजूकेशनल गाइडेंस सेंटर फार यंग वर्कर्स	1 गलियों में घूम- घूम कर व्यवसायरत बालक बालिकाएं ।	1 इन बालकों को कार्य प्रदान करके समुदाय में सम्मिलित करना ।	1. बालकों को लाइसेंस प्रदान किए जाते हैं । 2. तथा म्युनिसपेलिटी द्वारा सुरक्षा प्रदान की जाती है । 3. 14 वर्ष की आयु वाले बालकों को म्युनिसपेलिटी कार्य प्रदान करती है। 4. 16 वर्ष की आयु में उन्हें विभिन्न फर्मों में कार्य दे दिया जाता है ।
3.	सेलेशिअन सेंटर फॉर माइनर्स	1. 14-15 वर्ष तक के बाल मजदूर ।	1. बाल मजदूरों के सामाजिक एकाकीपन (बहिष्कार) को दूर करना (मित्र- सहायता प्रदान करना) 2. सामुदायिक जागृति पैदा करना, जिससे वे बाल- मजदूरों की संरचना को न बढ़ायें ।	1. गली के बाल मजदूरों को सस्ता, अच्छा पोषण प्रदान करना । 2 उनके लिए मनोरंजन, पार्क तथा विश्रामघरों की व्यवस्था करना ।

			3 अल्पआयु के बालकों के अधिकारों की सुरक्षा करना।	3. दाँतों की एवं अन्य चिकित्सीय सेवाएं प्रदान करना। 4 शैक्षिक एवं कार्यालक निर्देशन प्रदान करना।
4	अल्टेनेटिव सर्विसेज फॉर स्ट्रीट चिल्ड्रेन	गली में आवारा घूमने वाले बाल- मजदूर	1 सामुदायिक कार्यक्रमों हेतु मानव संसाधनों का विकास 2 सरकार को समय- समय पर बाल- मजदूरों के नियत्रण संबंधी सुझाव देना। 3. जनजागृति उत्पन्न करना।	1. विभिन्न प्रोजेक्टों के माध्यम से बाल मजदूरों संबंधी आंकड़ों का एकीकरण, विश्लेषण करना। 2 शहरी भागों में स्थानीय सामुदायिक समूहों की स्थापना करना। 3. बाल- मजदूरों के सर्वांगीण विकास हेतु प्रयास करना। 4 शिक्षा- रोजगार संबंधी कार्यक्रम चलाना
5	द बोर्डर प्रोग्राम	अमेजीना स्टेट के बाल- मजदूर	1 बाल मजदूरों को बसाना तथा रोजगार के अवसर प्रदान करना 2 भौगोलिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से बाल मजदूरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।	1. बालकों को रोजगार परक प्रशिक्षण प्रदान करना। जैसे- खेती, मत्स्य पालन, मुर्गी पालन, विद्युत कार्मिकता

सारिणी 1.6

मेक्सिको में कार्यरत बाल मजदूरों हेतु संगठन

	कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	उद्देश्य	क्रियायें
1	डी० आई० एफ० नेशनल सिस्टम फॉर दी इन्ट्रीगल डेवलेपमेंट ऑफ दी फ़ेमिली	समूह : 1 पूर्णतया वियुक्त बालकों हेतु समूह : 2 अर्द्धवियुक्त बालकों हेतु समूह : 3 असामाजिक बालकों हेतु (जो परिवार मे ही हैं) समूह : 4 परिवार मे रह रहे बाल मजदूरों हेतु	एक जैसे ही	1 खोजकर पकड़कर पुर्नव्यवस्थित करना । 2 बाल मजदूरों को बचाना तथा उनकी देखभाल करना ।
2.	प्रोग्राम फॉर माइनर्स इन डिफीकल्ट सिचुएशन्स	18 वर्ष तक के गलियों में घूमने वाले बालक ।	अनौपचारिक रोजगारों की व्यवस्था करना ।	1 शैक्षिक कार्यक्रमों का सचालन करना 2. व्यावसायिक प्रशिक्षण करना 3 अभिवृत्तियों मे परिवर्तन करना ।
3.	असिस्टेंस टू मर्जिनल ग्रुप इन मेक्सिको सिटी	8-15 वर्ष तक के बाल मजदूर	1 स्वास्थ्य की देखभाल करना । 2 साक्षरता प्रशिक्षण प्रदान करना । 3 व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करना ।	1 बाल मजदूरों की आवश्यकताओं का विश्लेषण करना । 2. छात्रों को छोटे- छोटे रोजगारों हेतु कर्ज देना । 3. छात्रों हेतु शैक्षिक कार्यक्रमों का आयोजन करना आदि ।

सारिणी 1.7
केन्या में कार्यरत बाल मजदूरों हेतु संगठन

	कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	उद्देश्य	क्रियाएं
1.	कम्युनिटी ड्रामा प्रोजेक्ट	नैरोबी में गृह कार्य करने वाले बाल मजदूर।	1 जन चेतना जागृत करना।	1. रोजगार देने वाले तथा पाने वाले बाल मजदूरों की अभिवृत्तियों का अध्ययन करना।
			2 बाल मजदूर संबधी दृष्टिकोण का उनके एम्पलोयर से पता लगाना।	2 प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों एवं बालकों को नाटक दिखाना।
				3. निर्णायक मंडल के समक्ष नाटकों की प्रस्तुति करना।
2	अनड्युग सोसायटी ऑफ केन्या	1 गलियों मे घूमने वाले आवारा बाल- मजदूर तथा 12-16 वर्ष की बाल- वेश्याएँ।	1 तिरस्कृत बालकों की मदद करना।	1. रिसेप्शन केन्द्रों का निर्माण।
		2. स्लम में रहने वाले बालक।	2 शैक्षिक कौशल प्रदान करना।	2 परिवार से पिछड़े बालकों हेतु कार्यक्रम
		3 स्त्रियाँ (जरूरतमंद)	3 स्वास्थ्य प्रशिक्षण प्रदान करना।	3 चार वर्ष तक बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम।
				4. उत्पादन इकाइयों की स्थापना।
				5. कृषि कार्यक्रम।

सारिणी 1.8
फिलीपीन्स में बाल मजदूरों हेतु कार्यरत संगठन

	कार्यक्रम	लक्ष्य समूह	उद्देश्य	क्रियाये
1.	इन्टर- एजेन्सी टास्कफोर्स ऑन चाइल्ड लेबर इन दी मुरो- आमी फिशिग आपरेशन।	बाल मजदूर जो इस फिशिंग सेटर पर कार्यरत है	1. दीर्घकालिक बाल मजदूरों को आपरेशन के दुष्परिणामों से बचाना। 2 अल्पकालिक काय परिस्थितियों मे सुधार करना।	1. सगठित कार्य। 2. क्षेत्र पर्यटन। 3 स्थानीय लोगों से सम्पर्क। 4 रोजगारपरक कार्यक्रम।
2.	ओलेंगेपो स्ट्रीट चिल्ड्रेन प्रोजेक्ट	7-15 वर्ष के बालक	1 छात्रों की शैक्षिक, आर्थिक स्वास्थ्य संबंधी सहायता करना।	1 बाल मजदूरों के लिए प्रदत्त आधार तैयार करना। 2 सामुदायिक स्वैच्छिक सगठनों को भर्ती करना। 3. शहरी कार्यकारिणी समितियॉ बनाना।
3.	स्ट्रीट स्कूल फॉर स्ट्रीट चिल्ड्रेन	7-15 वर्ष तक के बालक	1 बाल मजदूरों को सड़कों पर आने से रोकना। 2. उन्हें औपचारिकेतर एवं अन्य व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करना।	1 टेंट स्कूल लगाना। 2. सचल स्कूल चलाना। 3. बाल- केन्द्रित प्रशिक्षण। 4 औपचारिक अनौपचारिक शिक्षा।

अनुपात 21 प्रतिशत तक बढ़ा हुआ है। यूनेस्को के एक प्रतिवेदन में तो यहां तक कहा गया है कि जो बालक विद्यालय से बाहर हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार के मजदूरी के कार्यों में संलग्न रहते हैं।

यहां पर हम ब्राजील, मेक्सिको, केन्या, फिलीपीन्स में प्रचलित बाल मजदूरों हेतु शैक्षणिक संचालित क्रियाकलापों के बारे में संक्षिप्त प्रकाश डाल रहे हैं (सारिणी 1.5, 1.6, 1.7 व 1 8)।

उपर्युक्त अंतर्राष्ट्रीय आव्यूहों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अब पुरातन कानूनों, नियमों से बाल मजदूरों की समस्या पर काबू पाना असंभव है। वर्तमान स्थिति से जूझने के लिये शिक्षा का व्यापक प्रचार- प्रसार तथा ऐसे कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान करना है जिनसे इस समस्या की जड़ों पर तीव्र प्रहार किया जा सके। इस दिशा मे मेक्सिको एवं ब्राजील ने कुछ अभिन्न कार्यक्रमों को अपनाया है तथा उसके सार्थक परिणाम भी सामने आये हैं। इसमें समुदाय की भूमिका सर्वाधिक प्रभावी रहती है, यह आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक आर्थिक संसाधनों की पूर्ति स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से करके इस समस्या को चुनौती दे रहे हैं। वास्तव मे यह एक अनुकरणीय अनुभव है। इसी प्रकार फिलीपीन्स की स्मोकी माउन्टेन नामक स्वैच्छिक संस्था निपुण शिक्षकों, माता- पिता, चिकित्सकों के समूह बनाकर ऐसी समस्या का मौलिक समाधान प्रस्तुत कर रही है, यद्यपि इसने अपना कार्य 1986 के दशक में ही प्रारंभ किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब तक किसी राष्ट्र का सम्पूर्ण समुदाय समर्पित भावना से इस समस्या के निदान हेतु आवश्यक शक्ति ऊर्जा का व्यय नहीं करेगा, यह समस्या मूर्त रूप मे कभी भी समाप्त नहीं हो सकेगी। अतः जन चेतना, बाल मजदूरों की गंभीर समस्याओं से जूझने का अमोघ मूल- मंत्र है जिसे मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण स्वैच्छिक एवं स्वयंसेवी संगठन ही फूंक सकते है।

संदर्भ

1. **एनुअल एस्टीमेशन ऑफ पोपूलेशन,** नीपा 1988
2. बेक्वेले, असीफा एवं बॉयडेन जो (एडिटर्स), **कॉम्बेटिंग चाइल्ड लेबर,** इन्टरनेशनल लेबर ऑफिस, जेनेवा।
3. **सेंसस ऑफ इंडिया 1981**
4. दिग्वाने, मंज्जरी, डोंगरा, सुनील, **चाइल्ड ऑफ डार्कनैस : ए मैनुएल ऑफ चाइल्ड लेबर इन इंडिया,** रूरल लेबर सेल, नई दिल्ली, 1988
5. आई० एल० ओ०, **चाइल्ड लेबर, ए ब्रीफिंग मैनुअल,** जेनेवा, 1986
6. आई० एल० ओ०, **कन्डीशंस ऑफ वर्क डाइजेस्ट, दी इमर्जिंग रेसपॉन्सेज टू चाइल्ड लेबर,** जेनेवा, 1988
7. मिनिस्ट्री ऑफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलेपमेंट, डिपार्ट० ऑफ ऐजूकेशन, **सेलेक्टेड ऐजूकेशनल स्टेटिस्टिक्स,** गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1987
8. नंगिआ, परवीन, **इम्पैक्ट ऑफ अरबनाइजेशन ऑन स्ट्रीट अर्चिन्स : ए फोकस ऑन देलही,** नेशनल वर्कशाप ऑन स्ट्रीट चिल्ड्रन, न्यू देहली, यूनिसेफ, 1988

9 नायडू, उषा, एस. एवं कपाड़िया के., चाइल्ड लेबर एंड हैल्थ, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज, 1985

10 सिंह, रोमिला, ए स्टडी ऑफ इन्टेलीजैंस एण्ड क्रिएटिविटी एमंग थ्री ग्रुप्स ऑफ स्ट्रीट चिल्ड्रेन एज ए फन्क्शन ऑफ ऐजूकेशन एंड एक्सपोजर टू स्ट्रीट लाईफ, अनपब्लिश्ड डिसर्टेशन, देहली यूनिवर्सिटी, देहली 1989

11. स्कॉट, ए० एम०, "चेंजेज इन दी स्ट्रक्चर ऑफ चाइल्ड लेबर अन्डर कन्डीशंस ऑफ ड्यूलेस्टिक इकोनोमिक ग्रोथ", डेवलेपमेंट एंड चेंज, वाल्यूम- 13, नं०-1, 1982

आधुनिक समाज के सन्दर्भ में स्कूली शिक्षा

एम० एन० सिंह

अध्यक्ष
समाजशास्त्र विभाग, म० मा० स्ना० महाविद्यालय
कालाकांकर, प्रतापगढ़ (उ० प्र०)

आजादी के बाद हमारे यहां शिक्षा कुछ परिवारों में सिमट कर रह गई, जो पूरी जनसंख्या का 3 प्रतिशत हैं। करीब 30 लाख से लेकर 40 लाख तक छोटे और पांच लाख बड़े परिवारों में ही शिक्षा सिमट गई है। इन परिवारों का हर बच्चा स्कूल, फिर कालेज और डिग्री पाकर नौकरी करता है। यही बात उनके बेटे- बेटियों और पोते- पोतियों पर भी लागू होती है। बाकी 97 प्रतिशत लोगों के बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं और अगर जायेंगे तो पहली दूसरी और बहुत हुआ तो सातवीं तक जाकर स्कूल छोड़ देते है। अगर इन में से कुछ लोग बहुत प्रयास करके हाई स्कूल और कालेज तक पहुँचे भी तो वे इतने कमजोर हो जायेंगे कि किसी प्रतियोगिता में उन तीन प्रतिशत घरों के बच्चों का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। यह कारण है कि आजादी के चार दशक बाद भी आरक्षण की जरूरत है और प्राथमिक स्कूलों से दस गुने कम हाई स्कूल हैं, जबकि दोनों की संख्या बराबर होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता के बाद और उसके पहले भी कई शिक्षाविदों तथा समाजशास्त्रियों ने शिक्षा विषय पर प्रभावोत्पादक विचारों का संग्रह किया था लेकिन दुर्भाग्यवश उस पर कोई कार्यवाही नहीं हुई। कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं, लेकिन अधिकांश परिवर्तन जिन्दगी के दबाव से हुए हैं, नीति निर्धारकों की सचेतन और सुविचारित इच्छा से नहीं। आज सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि सभी स्तरों पर शिक्षा में गुणात्मक सुधार करने पर जोर दिया जाये। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के स्पष्ट उद्देश्यों, आवश्यक प्राथमिकताओं और उपयुक्त रूपात्मकता को प्रकट करना चाहिये और एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जोड़ना चाहिए। राष्ट्रीय शैक्षणिक कार्यक्रम तेजी से बदलने वाले भविष्य को ध्यान में रखकर समकालीन आवश्यकताओं से संबंधित होने चाहिएं। शिक्षा की उपेक्षा के लिये कुछ प्रमुख बाधाएं जिम्मेदार थीं जिससे समय- समय पर सामाजिक परिवर्तन न हो सके। आज समय की सबसे बड़ी मांग है कि सभी स्तरों पर शिक्षा में गुणात्मक सुधार पर उचित जोर दिया जाये तथा उसकी रूपात्मकता को बेहतर काम से सुधारा जाये। शिक्षा प्रणाली के विस्तार की रेखीय आवश्यकताओं के स्थान पर उसके ढांचे और विषयवस्तु दोनों में क्रान्तिकारी और गुणात्मक परिवर्तन करना शिक्षा की योजना बानाने वालों और प्रशासकों के लिए एक कठिन कार्य और जिम्मेदारी है। उनका कार्य स्पष्ट, ठोस और एकीकृत राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अभाव में और कठिन हो जाता है। यह सत्य है कि भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66) की रिपार्ट (कोठारी रिपोर्ट) में विस्तृत सर्वेक्षण किया गया और स्पष्ट सिफारिशे प्रस्तुत की गयीं। लेकिन रिपोर्ट को राष्ट्रीय नीति के रूप में लागू नहीं किया गया, केवल कुछ दिशा निर्देशों को राष्ट्रीय नीति के दस्तावेजों में शामिल किया गया, उसे लागू करने के लिए कोई तरीका नहीं अपनाया गया। ये दिशा- निर्देश, सामान्य उद्देश्यों के वक्तव्य मात्र रहे, जिन्हें शिक्षा के व्यापक ढांचे में समन्वित

भी नहीं किया गया।

आजादी के बाद हमारे यहां शिक्षा कुछ परिवारों में सिमट कर रह गई, जो पूरी जनसंख्या का 3 प्रतिशत हैं। करीब 30 लाख से लेकर 40 लाख तक छोटे और पांच लाख बड़े परिवारों में ही शिक्षा सिमट गई है। इन परिवारों का हर बच्चा स्कूल, फिर कालेज और डिग्री पाकर नौकरी करता है। यही बात उनके बेटे- बेटियों और पोते- पोतियों पर भी लागू होती है। बाकी 97 प्रतिशत लोगों के बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं और अगर जायेंगे तो पहली दूसरी और बहुत हुआ तो सातवीं तक जाकर स्कूल छोड़ देते हैं। अगर इन मे से कुछ लोग बहुत प्रयास करके हाईस्कूल और कालेज तक पहुँचे भी तो वे इतने कमजोर हो जायेंगे कि किसी प्रतियोगिता में उन तीन प्रतिशत घरों के बच्चों का मुकाबला नहीं कर सकेगे। यह कारण है कि आजादी के चार दशक बाद भी आरक्षण की जरूरत है और प्राथमिक स्कूलों से दस गुने कम हाई स्कूल हैं, जबकि दोनों की संख्या बराबर होनी चाहिए।

हमारा अनुमान है कि शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्ग के लिए 10-20 हजार लोग ही पढ़े- लिखे समूह में दाखिल हो पाते हैं। इससे उसका न तो चरित्र बदलता है और न उसके मूल्य। इस प्रकार शिक्षा का होना और न होना देश को बांटने वाला सबसे बड़ा कारण हो जाता है। जाति, धर्म और दूसरे कारणों का बटवारा इससे कमजोर और कम प्रभावी है। आज किसी व्यक्ति समूह या समाज की सबसे बड़ी सम्पत्ति ज्ञान और जानकारियां ही हैं। इसमें भेदभाव होना, शोषण का पहला कारण बनता है। आज का भारत इस भेदभाव से ग्रस्त है। इस कारण ज्ञान और नई जानकारियां देने वाली शिक्षा आज 97 प्रतिशत लोगों का शोषण तीन प्रतिशत लोगों से करवा रही है। अतः जब तक स्कूल की शिक्षा व्यवस्था सबके लिए न की जाए और उसे लोकतांत्रिक न बनाया जाए, हम अपने समाज को सच्चा लोकतंत्र नहीं कह सकते। यह दस्तावेज सही हालत नही बताता। संविधान के लक्ष्यों को पाने में शिक्षा की भूमिका को भी यह नही पहचानता।

जैसा पहले कहा गया है, सबसे पहले सबको शिक्षा देने और शिक्षा व्यवस्था को लोकतांत्रिक बनाने की जरूरत है। अतः हमारे यहां एक ही तरह के सरकारी स्कूल होने चाहिएं। इसके लिए प्राइवेट और पब्लिक स्कूल बंद करने होंगे। कुछ स्थानीय माहौल के कारण थोड़े बहुत फर्क के अलावा हमे पूरे देश में शिक्षा का एक ही पाठ्यक्रम रखना होगा। अगर हम स्कूली शिक्षा पर पूरा ध्यान देते हैं तो कालेज और विश्वविद्यालय शिक्षा खुद-ब-खुद सुधर जायेगी। अन्य कई देशों में ऐसा ही हुआ है।

स्कूल शिक्षा को राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति मानना होगा। अध्यापकों को अपने काम के हिसाब से ही सुविधाएं मिलनी चाहिएं। राष्ट्रीय विकास में वे जो भूमिका निभा रहे हैं उसके लिए उन्हें सामाजिक सम्मान दिया जाना चाहिए। अभी तो अपने यहां नौकरी पेशा लोगों मे स्कूल शिक्षकों की हालत सबसे खराब है। क्या हमने 1968 की शिक्षा नीति अपनाई है ? दरअसल कोई नीति ही नहीं है। हम सिर्फ यही कह सकते हैं कि एक नीति होनी चाहिए जिसे क्रियान्वित किया जाये। यह बात 1968 की तथाकथित नीति में निश्चित रूप से नही है। दर असल यह यथास्थिति बनाए रखने का उपकरण ही है। इससे शिक्षा का उपयोग शोषण करने के लिए ही होगा न कि विकास के लिए। आजादी के बाद सबसे अधिक असमानता शिक्षा के कारण ही आई है। जहाँ शिक्षा के असली उद्देश्य पूरे होंगे तभी समाज में भेदभाव समाप्त होंगे।

हम खाली शब्दों से विनाशकारी और भेदभाव वाली मनोवृत्तियों से नहीं उबर सकते। क्या किसी ने स्पष्ट शब्दों में कहीं कुछ कहा है कि हम शिक्षा से क्या पाना चाहते हैं और इस देश में शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? जिन संदर्भों मे आपने "आपसी एकता, मन मिलने और सामाजिक सद्भाव" शब्दों का प्रयोग किया उनका मेरे लिए कोई खास

अर्थ नहीं है। मेरे हिसाब से वे प्राथमिक मूल्य नहीं हैं। शिक्षा का उद्देश्य कुछ प्राथमिक मूल्यों को बढ़ाना है जिनकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। इस समस्या के सुलझते ही हमारी काफी मुश्किलें समाप्त हो जायेगी। हम चाहेंगे कि एक शिक्षित आदमी कुछ प्राथमिक मूल्यों से प्रतिबद्ध हो। कोई क्या खाता है, कैसे खाता है, कैसे उठता- बैठता है, वगैरह जैसी भिन्नताएं रहेंगी लेकिन उन पर बहुत ध्यान देने की जरूरत नहीं है भिन्न- भिन्न बातों के टकराव से ही विकास होता है, लेकिन यह टकराव स्वस्थ होना चाहिए।

"न्यू क्वेस्ट" मे अपने लेख में डा० भार्गव ने लिखा है कि राजनैतिक- सामाजिक- आर्थिक इच्छाशक्ति का अभाव सबसे बड़ा रोड़ा है। शिक्षा के लोकतांत्रिकरण और सबको शिक्षा देने की बात वही लोग सोचते है जिनके हाथ में फैसला करने की शक्ति नही है। जब अधिकांश विश्वविद्यालयों के अधिकांश छात्रों की पढ़ाई मे कोई दिलचस्पी ही नहीं रह गई, तो आप और क्या उम्मीद करते हैं ? शिक्षक पढ़ाते ही नहीं और वे इसके लिए सक्षम भी नहीं और प्रशासन शिक्षा की जरूरते जानते तक नहीं हैं। जिस देश में राजनैतिक व्यवस्था ही अपने स्वार्थों के लिए शिक्षा को भ्रष्ट कर रही हो, वहां और क्या होगा ? इसका इलाज सबको प्राथमिक शिक्षा देना और शिक्षण संस्थाओं का लोकतांत्रिकरण ही है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है प्राथमिक शिक्षा पर ध्यान देने पर उच्च शिक्षा खुद- ब- खुद सुधर जायेगी, जैसा कि अन्य देशों में भी हुआ है।

मैं इस बात से दुखी हूं कि नये दस्तावेज के लेखकों ने इन दिशा- निर्देश का जिक्र नही किया है। या फिर वे यह चाहते हैं कि चूँकि इनमें से किसी को भी पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता इसलिये हम इन्हें भूल जाएं। अगर कुछ नये सुझावों को मान लिया जाये तो उनके परिणाम कोठारी आयोग की सिफारिशों के ठीक उल्टा होंगे। सबसे पहले आप शिक्षा की बात लें। सन् 1981 की जनगणना रिपोर्ट और एन० सी० ई० आर० टी० द्वारा कराये गये चौथे राष्ट्रीय शिक्षा सर्वेक्षण से यह बात सामने आई है कि हमारे 40 प्रतिशत प्राथमिक स्कूलों पर छप्पर भी नही है। करीब दो लाख स्कूलों के पास ब्लैकबोर्ड भी नही है। 1.65 लाख स्कूलों में सिर्फ एक ही शिक्षक है जब कि 70 प्रतिशत विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ जाते है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लिए ईमानदार और साहसिक प्रयासों की जरूरत है। नया दस्तावेज यह वादा भी नहीं करता कि 21 वीं सदी मे हमारे सभी स्कूलों के पास ब्लैकबोर्ड और सही सलामत छत होगी। तब हर प्राथमिक स्कूल में दो शिक्षक होंगे। हर छात्र को मुफ्त में पाठ्यपुस्तके दी जायेगी और बच्चे स्कूल छोड़कर नहीं भागेंगे। इसके विपरीत यह प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था में सुधार की कोई योजना बनाए बगैर गैर- परम्परागत शिक्षा पर दिखावे के लिए कुछ खर्च करने की बात करता है। हम केन्द्र सरकार से कहना चाहेंगे कि वह अपने तीन- चार करोड़ टन के अतिरिक्त अन्न भंडार का उपयोग पढ़ाई के बदले अनाज कार्यक्रम शुरू करने में करे। गरीब परिवार का बच्चा स्कूल छोड़कर न जाये इसके लिए उसे एक किलो चावल या गेहूँ दिया जा सकता है। सभी स्कूलों की इमारत स्थानीय संसाधनों से बनाने में भी इस अनाज का उपयोग किया जा सकता है। इसके अलावा शिक्षा के लिए बजट में कम से कम 10 प्रतिशत पैसा रखा जाना चाहिए। हम अपने बजट का 15 प्रतिशत राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च करते हैं। सीमा की सुरक्षा निश्चित रूप से बहुत जरूरी है लेकिन हमें अपने मानव संसाधनों का विकास भी पूर्ण रूप से करना चाहिए।

शिक्षा की स्थिति

स्वतंत्रता के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में हुई प्रगति के बावजूद शिक्षा का लाभ सभी लोगों तक न्यायसंगत और समान रूप से पहुँचाने का और अच्छी शिक्षा देने की आकांक्षा अभी पूरी नहीं हो सकी है। साक्षरता की दृष्टि से

भारत अभी भी सबसे पिछड़े हुए देशों में से है, जहां 1981 मे कुल जनसंख्या का केवल 36.2 प्रतिशत ही साक्षर है। इसमें स्त्रियां, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां अभी भी क्रमशः 24 9 प्रतिशत, 21.4 प्रतिशत और 16.4 प्रतिशत के स्तर पर ही हैं। कक्षा एक से आठ के बीच पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या 75 प्रतिशत से भी अधिक होने के कारण देश में प्रारम्भिक शिक्षा को आम बनाने के अपने निर्धारित लक्ष्य से हम अभी भी कोसों दूर हैं। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों और लड़कियों में यह प्रतिशत इससे भी कहीं अधिक है।

माध्यमिक, उच्चतर कक्षाओं में जाने वाले बच्चों की संख्या 1947 में 22 लाख थी जो 1983 मे बढ़कर 340 लाख थी और इस समय 1991 में लगभग 450 लाख के आस- पास पहुँच गई है। इस प्रकार स्कूलों की संख्या 1947 में 13,000 थी जो बढ़कर 1,75,000 हो गई है।

1960-61 मे उच्चतर शिक्षा पूरी करने वाले लड़के- लड़कियों की संख्या 2.37 लाख थी। सन 1981-82 मे बढ़कर 8.40 लाख हो गयी है। इनमे से करीब 83 प्रतिशत कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश करना चाहते हैं। इनमें से केवल 20 प्रतिशत लड़के- लड़कियां ही व्यावसायिक या तकनीकी शिक्षा देने वाली संस्थाओं मे प्रवेश कर पाते हैं।

1968 की शिक्षा नीति के अन्तर्गत 10+स्तर पर 50 प्रतिशत रोजगारोन्मुखी कौशल का विकास करने का लक्ष्य रखा गया था। किन्तु 1982- 83 में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में 10 + स्तर पर प्रवेश पाने वाले छात्रों की सख्या केवल 60, 000 ही थी। इस समय देश मे 5,246 कालेज और 140 विश्वविद्यालय हैं। 33.60 लाख से लेकर 50 लाख छात्र पढ़ते हैं। इनमें 10. 76 लाख लड़कियां हैं। 1981 में भारत में 700 कालेज और 120 विश्वविद्यालय थे जिनमें पढ़ने वाली कुल संख्या 4 से 6 लाख थी। हालांकि कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की गयी है लेकिन सब मिलाकर देखें तो 1968 की शिक्षानीति के अन्तर्गत निर्धारित बुनियादी लक्ष्य अभी भी प्राप्त नहीं हो सके हैं। इस नीति का लक्ष्य था शिक्षा को जीवन के साथ- साथ घनिष्ठ रूप से जोड़ना जिससे विज्ञान और टैक्नालाजी का विकास हो और नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों का परिष्कार हो। इस बीच निरन्तर बढ़ रहे सामाजिक- आर्थिक विकास और विज्ञान तथा टेक्नालोजी के क्षेत्र में हुई प्रगति के फलस्वरूप नई शिक्षा की आवश्यकताएं उत्पन्न हो गई हैं।

विफलताएं

लोग एक ऐसी शिक्षा प्रणाली के प्रति लगभग उदासीन से हैं जो उन्हें अपने संदर्भ में अप्रासगिक लगती है। समूची स्कूल प्रणाली एक विराट नौकरशाही व्यवस्थातंत्र का अंग बन गयी सी दिखती है जिसमें स्थानीय स्तर पर दखल देने की पर्याप्त गुंजाइश नहीं रह गई है। परिणामतः शिक्षा प्रणाली मुख्यतः सरकार की जिम्मेदारी बन कर रह गई है।

1947 में देश में निरक्षर लोगों की कुल संख्या 30 करोड़ थी जो 1981 मे बढ़कर 43 करोड़ 70 लाख हो गई है। आबादी के प्रतिशत के हिसाब से देखें तो साक्षरता में लगातार वृद्धि हुई है। सन् 1951 में साक्षरता 16 67 प्रतिशत थी जो 1985 में बढ़कर 36 23 प्रतिशत हो गई है। किन्तु प्रगति के दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों के बीच बहुत असमानता है। यह स्थिति इस तथ्य की परिचायक है कि प्रारंभिक और प्रौढ़ शिक्षा के सकारात्मक परिणाम बढ़ती हुई जनसंख्या की ऊँची दर के कारण व्यर्थ हो जाते हैं जो वैसी ही बनी रही तो वर्ष 2000 में भारत में 50 करोड़ लोग निरक्षर होंगे।

"यूनेस्को" के अध्ययनों से पता चलता है कि 70 प्रतिशत का साक्षरता स्तर प्रौढ़ शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिए अत्यावश्यक है।

1978 में अखिल भारतीय सर्वेक्षण से पता चला

था कि अनेक प्रारंभिक और माध्यमिक स्कूलों मे बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। कुल मिलाकर देखें तो कालेजों और विश्वविद्यालयों की सामान्य दशा चिन्तन का विषय है। क्योंकि इनमें से अनेक संस्थाएं घोर जातिवादी और क्षेत्रवादी बन गई है जहां राजनीतिक और अन्य प्रकार के गुट शिक्षकों और अन्य कर्मचारियों की सहायता से सत्ता और प्रभुत्व के लिए जम कर लड़ते हैं। यह धारणा बहुत आम है कि उच्चतर शिक्षा की वर्तमान दशा की यह स्थिति बाहरी एजेन्सियों के प्रकट और परोक्ष हस्तक्षेप के कारण है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका यह है कि वह शैक्षिक नियमादि के पालन पर निगाह रखे और नये- नये कार्यक्रमों को बढ़ावा दे। किन्तु जिस हद तक वह शिक्षा के मानदण्डों को कायम रखने अथवा कालेजों- विश्वविद्यालयों में कार्य निष्पादन के निम्नतम स्तर को लागू कराने में सफल रही है, उसके लिये उसकी आलोचना की गई है। कला और मानव- विज्ञान को एक पक्षीय अध्ययन कार्यक्रमों के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, जिनका वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं से कोई नाता ही नहीं होता है। इसलिए स्नातक स्तर की परीक्षा पास करने वाले छात्रों की गुणवत्ता और रोजगार की दृष्टि से उनकी उपयोगिता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। विज्ञान के मामले में स्थिति यह है कि पाठ्यक्रमों का संजोयन अभिकल्पनाओं को समझने के लिए किया जाता है लेकिन प्रयोगशाला के उपकरणों, आवश्यक "किट" आदि की सहायता से उनको सिद्ध करने या स्पष्ट करने की व्यवस्था नहीं है।

तकनीकी शिक्षा प्रणाली के सामने अब एक गंभीर समस्या यह है कि वहां मशीनें, उपकरण आदि सब पुराने पड़ गये हैं और नई प्रकार की टेक्नालाजाई मे शोध करने या प्रशिक्षण प्रदान करने की सुविधाओं का अभाव है।

औपचारिक शिक्षा की सभी प्रक्रियाओं में शिक्षक की भूमिका सबसे मुख्य है, किन्तु इनमे अनेक कमियां हैं। इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि शिक्षा के व्यवसाय मे राजनीति का बोलबाला हो गया है और नौकरियों में शिक्षक की नौकरी को सबसे कम पसंद किया जाता है। शिक्षकों मे योग्यता को बढ़ावा देने की योजना को जिस प्रकार लागू किया जाता रहा है उससे शिक्षकों मे चिन्ता उत्पन्न हो गई है।

शिक्षा सुविधा की सुलभता, समानता और प्रभाव की दृष्टि से शिक्षा प्रणाली में व्यापक असमानताएं हैं। देश की आबादी का तीन चौथाई भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है, लेकिन इसके बावजूद उन्हे शिक्षा के संसाधन बहुत कम प्राप्त होते है। परिणामतः लड़कियों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों तथा समाज के अन्य कमजोर वर्गों के बच्चे सामान्य स्तर से काफी पीछे रह जाते हैं।

शिक्षा तथा रोजगार के बीच तालमेल का अभाव उनके बीच अन्तर की प्रमुख विशेषता है। कृषि या उससे सबंधित ग्रामीण व्यवसायों और उद्योगधंधों के असंगठित क्षेत्र के लिये छात्रों की योग्यता और कुशलता बढ़ाये, ऐसी कोई व्यवस्था स्कूल की शिक्षा प्रणाली में नहीं है।

प्रथम योजना अवधि में शिक्षा के लिए जो राशि रखी गई थी उसमें बुनियादी शिक्षा का हिस्सा 56 प्रतिशत था। यह हिस्सा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में घटकर 35 प्रतिशत, तृतीय पंच वर्षीय योजना में 34 प्रतिशत और चौथी पंचवर्षीय योजना में 30 प्रतिशत रह गया है। छठी पंचवर्षीय योजना में उसका हिस्सा 36 प्रतिशत था। इसके विपरीत कालेजों और विश्वविद्यालयों का हिस्सा जहां प्रथम पंचवर्षीय योजना में केवल 9 प्रतिशत था, वहीं वह छठी पंचवर्षीय योजना में बढ़कर 16 प्रतिशत हो गया।

शिक्षा पर खर्च होने वाली योजना राशि का 70 प्रतिशत भाग राज्य सरकार देती है। शिक्षा की धीमी प्रगति के लिए सबसे अधिक जो चीज जिम्मेदार है, वह है संसाधनों

की कमी। शिक्षा के लिए आवंटित राशि का लगभग 90 प्रतिशत भाग वेलनादि और प्रशासन व्यय के ऊपर खर्च हो जाता है।

तकनीकी शिक्षा में सुधार लाने के लिए यह जरूरी है कि अच्छे शिक्षकों को आकर्षित करने, उद्योगों के साथ ताल- मेल बैठाने, ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबों को लाभ पहुँचाने के लिए आधुनिक टेक्नालाजी को लागू करने में फैक्टरियों का सहयोग प्राप्त करने, राज्य स्तरीय कालेजों, क्षेत्रीय कालेजों और भारतीय टेक्नालाजी संस्थाओं (आई० आई० टी०) के मध्य असमानताओं को घटाने और विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के बीच नेटवर्क व्यवस्था स्थापित करने जैसी कुछ बातों पर विचार किया जाये। यह भी एक तर्क दिया जा सकता है कि निजी संगठित क्षेत्र को भी कुछ हद तक तकनीकी शिक्षा में अपना समर्थन- सहायता प्रदान करना चाहिए क्योंकि उक्त संस्थाओं से शिक्षा- प्रशिक्षण प्राप्त करके निकलने वाले छात्रों में से अधिकांश को इन्हीं निजी औद्योगिक व्यावसायिक संगठनों में खपा लिया जाता है।

पांच प्रमुख प्रतिबंध

शैक्षिक परिवर्तन जीवन के वैज्ञानिक, तकनीकी और आर्थिक पहलुओं में परिवर्तन से पीछे क्यों रह गया है ? स्वयं को भारतीय स्थिति तक सीमित रखते हुए पांच प्रमुख प्रतिबंधों और कठिनाइयों का उल्लेख किया जा रहा है, जिन्हें दृढ़ता और सूझ- बूझ से दूर किया जाना चाहिए। तभी हम आगे बढ़ सकते हैं, या पिछली उपेक्षा के कारण जहां पिछड़ गये थे वहां बराबरी पर आ सकते हैं।

1. कोई भी शिक्षा प्रणाली केवल बृहद सामाजिक- आर्थिक वातावरण की सच्चाई को प्रकट करती है। जहां शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में मदद करती है, वहां स्वयं सामाजिक यथार्थ से निर्धारित होती है। अगर सामाजिक- आर्थिक व्यवस्था के संचालन और मान्यताओं में असमानताएं तथा विशेषाधिकार होते हैं, तो शिक्षा में समानता एक भ्रान्ति रह जायेगी। अगर शिक्षा के क्षेत्र में समता की इच्छा सच्ची और गतिशील है, तो वह सामाजिक- आर्थिक परिवर्तन में योगदान करने के साथ- साथ कायापलट कर सकती है। लेकिन अगर सामाजिक- आर्थिक स्थिति अनुकूल नहीं है, और परिवर्तन के विरुद्ध है, तो शिक्षा में परिवर्तन के अवसर सीमित हो जायेंगे।

2. विभिन्न स्तरों पर शिक्षा सुविधाओं के विस्तार से संबंधित समस्याएं और शिक्षा की विषयवस्तु का गुणात्मक सुधार समाज के उद्देश्यों और उनकी प्राप्ति के लिए निर्धारित प्राथमिकताओं पर निर्भर करता है। शिक्षा का विषय सम्पूर्ण समाज से संबंधित है लेकिन राज्य और केन्द्र इसमें परिवर्तन लाने के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। साधनों का बटवारा राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित सामाजिक प्राथमिकताओं पर निर्भर करता है और भारत में अब तक साधनों के बंटवारे के मामले में शिक्षा को इसके महत्व के बारे में समय- समय पर चर्चा करने के बावजूद उच्च्य प्राथमिकता नहीं दी गयी। बढ़- बढ़ कर बातें ही की गई हैं लेकिन उन बातों को लागू करने के लिये कुछ नहीं किया गया। इससे विचारों और कार्यों के बीच खाई बढ़ी है जिससे इसमें लगे व्यक्तियों का उत्साह और लगन के स्थान पर अकर्मण्यता और पाखण्ड बढ़ा है। शिक्षा सुधार के लिए राजनैतिक इच्छाशक्ति की कमी सबसे बड़ा बंधन रहा है।

3. एक अन्य बंधन शिक्षा प्रणाली में रूढ़ संकीर्णवादिता है जो संस्थाओं और उनके प्रबन्धकों के रूप में निहित स्वार्थ और कट्टर मान्यताओं को जन्म देती है। ये परवर्तन और सुधार के स्थान पर आदत और परम्परा को अधिक महत्व देते हैं। हमारे विश्वविद्यालय ऐसी ही संस्थाएं है और प्रायः उनकी स्वायत्तता का इस्तेमाल पुरानी संस्थाओं को सुरक्षित रखने और परिवर्तन को रोकने के लिये किया जाता है। परम्पराओं और निहित स्वार्थों का बोझ परिवर्तन के मार्ग में आड़े आता है, जिससे उत्पन्न स्थिति वास्तविकता से दूर और अप्रासंगिक होती है। हमें शिक्षा संस्थाओं के इस

परम्परागत रूढ़िवादिता को अधिक लचीला और सृजनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर तोड़ना है जो शिक्षा में परिवर्तन को प्रोत्साहन और बढ़ावा दे। अब समय आ गया है कि आयोजन की बेहतर व्यवस्था की जाये। प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जाये और उनमें सुधार किया जाये। इन सबसे बढ़कर सभी संबंधित पक्षों को शामिल करके कार्यक्रमों को ठीक से और तेजी से लागू करने और विकेन्द्रीकरण और स्थानीय पहल के जरिये सामाजिक संसाधनों का गतिशील इस्तेमाल करने की व्यवस्था की जाये।

4 शिक्षा की प्रक्रिया में अध्यापकों की प्रमुख भूमिका को स्वीकार करना सबसे पहला और महत्वपूर्ण कदम है और शिक्षा में परिवर्तन के लिये उसे सबसे महत्वपूर्ण भूमिका देना है। तब तक कोई सार्थक परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक अध्यापक उसके लिए तैयार न हो। माता- पिता उसे स्वीकृति न दे दें, छात्र उसे समझ- बूझ कर स्वीकार न कर ले। यह तभी संभव है जब अध्यापकों को सभी स्तरों पर योजना तैयार करने और निर्णय करने में शामिल किया जाये और छात्रों व माता- पिता से नियमित सलाह- मशविरा किया जाये। भारत में शिक्षा पर लगातार राजनीतिज्ञ और उच्च अधिकारी हावी रहे हैं। इससे अध्यापकों मे निराशा व निष्क्रियता फैली है। अभिभावकों व छात्रों की उपेक्षा हुई है। स्वतंत्रता के फौरन बाद अध्यापकों व माता- पिता की यह उपेक्षा शुरू हो गयी और शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों की शक्ति और अधिकारियों का दमघोटू प्रभाव बढ़ने लगा। शिक्षा में प्रभावी और सार्थक सुधार लाने के लिए हमें इस प्रवृत्ति को बदलना होगा और अध्यापकों को सम्मानजनक स्थान देना होगा।

5. कोठारी आयोग की रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद के दशक में बड़े पैमाने पर परिवर्तन हुए हैं। इतनी तेजी और विस्तार से पहले कभी भी परिवर्तन नहीं हुए। समाज तेजी से बढ़ता गया और इसी तरह शिक्षा के विचार और कार्यक्रम प्रणाली मे भी परिवर्तन हुए। लोकतंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव, आजीवन शिक्षा की उभरती हुई धारणा और संचार की आमूल परिवर्तन करने वाली तकनीकों से प्राप्त नये अवसरों ने शिक्षा व संस्कृति को एक साथ जोड़ कर मनुष्य की आत्मा को स्वतंत्र बना देने, उनके मस्तष्कि को समृद्ध करने और मानव मूल्यों को मानवता की सेवा में प्रक्षेपित और कार्यान्वित करने का वचन दिया है। वास्तव में आज हम ज्ञान प्राप्त करने वाले समाज की दहलीज पर खड़े हैं।

निष्कर्ष

इन प्राथमिकताओं और शिक्षा पद्धति में परिवर्तनों से मानव संसाधनों में बढ़ोत्तरी होगी, उत्पादकता में वृद्धि होगी। सामाजिक न्याय, राष्ट्रीय एकता और जनसंख्या शिक्षा पर आधारित परिवार नियोजन के लक्ष्यों को अधिक अच्छी तरह से प्राप्त किया जा सकेगा। मानव संसाधनों के उत्पादन और इस्तेमाल के एक अधिक समन्वित दृष्टिकोण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में नीति निर्धारण की, शिक्षा में नये दृष्टिकोण की जरूरत है। शिक्षा के क्षेत्र में अब कार्य और संस्कृति की विशाल दुनियां और जीवनपर्यन्त अध्ययन का क्षेत्र शामिल है। नीति आयोजन, वित्त प्रशासन और प्रबन्ध के बीच आपसी संबंधों को मजबूत बनाने की जरूरत है। अगर नीति कमजोर व अस्पष्ट है तो समूची कार्यवाही की कड़ी बेकार हो जाती है।

राष्ट्रव्यापी बहस शुरू हो गई है। इससे महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा विचार गोष्ठियों के उद्घाटन और भाषण के साथ एकत्र होने की हमारी राष्ट्रीय आदत और परम्परा बढ़ेगी। क्या इससे एक ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण और संचालन योग्य शिक्षा नीति के विकास में सहायता मिलेगी जिससे योजना के साथ उसे निश्चित अवधि में पूरा करने का कार्यक्रम होगा और यह सुनिश्चित किया जायेगा कि नीतियां शब्दों और इरादों से उद्देश्यपूर्ण कार्यों का रूप लें?

संदर्भ

1. **भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1964-66,** कोठारी रिपोर्ट
2. **न्यू क्वेस्ट** 1979 द्वारा डा० पी० एम० भार्गव, खण्ड 15, मई- जून 147-158.
3 **योजना** - 26 जनवरी, 1986, पृ० 78
4. **योजना,** 15 जुलाई, 1991, पृ० 13
5 **यूनेस्को रिपोर्ट** 1985, पृ०- 103-104.
6 **योजना**, 26 जनवरी, 1986, पृ० 79.

छात्रों के संज्ञानात्मक विकास के परिप्रेक्ष्य में विद्यालयी पाठ्यक्रम के कुछ वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों का पदानुक्रमीय अध्ययन

सत्यनारायण त्रिपाठी

वरिष्ठ प्राध्यापक
शिक्षा विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ० प्र०)

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य पाठ्यक्रम निर्माताओं का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि जूनियर हाई स्कूल स्तर पर मूर्त प्रक्रीय संज्ञानात्मक अवस्था वाले ही छात्र होते हैं। इन छात्रों की सम्प्रत्ययों को समझने की एक सीमा होती है। अतएव पाठ्यक्रम निर्माण के समय विषयवस्तु का चयन छात्रों की संज्ञानात्मक अवस्था के अनुरूप रखे जाने की आवश्यकता है। साथ ही विषयवस्तु का क्रम तार्किक न रखकर मनोवैज्ञानिक रखना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को क्रमशः पढ़ने एवं पढ़ाने में मदद मिले।

प्रस्तावना

बालक प्रौढ़ का लघु रूप नहीं है। बालकों का चिंतनजगत प्रौढ़ों के चिंतन जगत से बिल्कुल भिन्न होता है। परन्तु विडम्बना यह है कि वर्तमान शिक्षातंत्र जो प्रौढ़ों के तार्किक चितनों का प्रतिफल है बालकों के चितन विकास की प्रक्रिया को स्वतंत्र एवं स्वाभाविक रूप से चलने नहीं देता। फलस्वरूप उनके विकास में अनेक प्रकार की जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं। वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी के द्रुतगामी विकास के कारण प्रत्येक शिक्षातंत्र में उसके अधिकाधिक समावेश की होड़ सी लग गयी है। यद्यपि विज्ञान की प्रकृति एवं बालकों के स्वाभाविक चिंतन अथवा संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया में काफी सीमा तक समान्तरता पाई जाती है। परन्तु क्या वर्तमान विज्ञान का पाठ्यक्रम बालकों के संज्ञानात्मक विकास को दृष्टिगत रखते हुए संगठित किया गया है? प्रस्तुत अध्ययन इसी रहस्य के उद्घाटन का एक प्रयास है।

रेनर इत्यादि (1978, पृ० 215) ने प्रारंभिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के विज्ञान- पाठ्यक्रम निर्माण के पूर्ण मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन प्रश्नों पर निर्णय लेने हेतु सुझाव दिया है :

1. पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य क्या है ?
2. विज्ञान संकाय के संगठन का उपयोग इन उद्देश्यों की प्राप्ति में किस प्रकार सहायक है ?
3 बच्चे किस विषयवस्तु को पढ़ सकते हैं ?

प्रथम एवं द्वितीय प्रश्नों पर शिक्षाविद निरन्तर विचार करते रहे हैं। यहां पर तृतीय प्रश्न पर विचार करना समीचीन है। यह पाठ्यक्रम में किसी विषयवस्तु के चयन किये जाने के मानदण्ड से संबंधित है। छात्र किस विषयवस्तु को पढ़ सकते हैं यह जानने के लिए उनके संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया को समझना होगा। पियाजे (1966, पृ० 123) ने संज्ञानात्मक विकास की निम्नलिखित चार व्यापक अवस्थाएं बताई हैं-

1. संवेदी गामक अवस्था - जन्म से अढ़ाई वर्ष तक
2. पूर्व प्रकाय चिंतन अवस्था- अढ़ाई वर्ष से सात वर्ष तक।
3. मूर्त प्रक्रीय अवस्था- सात वर्ष से ग्यारह वर्ष
4. औपचारिक प्रक्रीय चिंतन अवस्था- ग्यारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक।

ये संज्ञानात्मक अवस्थाएं निश्चित पदानुक्रमीय होती हैं परन्तु इन अवस्थाओं को व्यक्ति द्वारा प्राप्त किये जाने में वैयत्तिक्र भिन्नता पाई जाती है। पियाजे के संज्ञानात्मक विकास तंत्र की अंतिम अवस्था औपचारिक प्रक्रीय है जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को क्रमशः पूर्ववर्ती सभी अवस्थाओं से गुजरना पड़ेगा। मूर्त प्रक्रीय व्यक्ति अमूर्त प्रत्यय को समझने का विकास करने में असमर्थ होता है क्योंकि अमूर्त प्रत्यय को समझने के लिए सिद्धान्तों को निर्मित करने एवं मूर्त वास्तविकता से हटाव की प्रवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। अमूर्त प्रत्यय को समझने के लिए व्यक्ति को औपचारिक प्रक्रीय चिंतन की अवस्था मे आना होगा। हनहेल्डर और पियाजे (1958, पृ० 339-342) ने बताया कि औपचारिक प्रक्रीय व्यक्ति मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार के प्रत्ययों को समझने की योग्यता रखता है।

कारप्लस और कारप्लस (1970), कारप्लस और पीटर्सन (1970) रेनर और स्टैफोर्ड (1973 पृ० 291-296), फ्रायोट (1970), कीसे (1970), मैक्निन और रेनर (1971) हिगेन- टेंक और गेट (1971) लोवेल (1961), डेल (1970) आदि ने अपने अनुसंधानों में पाया कि माध्यमिक स्तर के 40 से 75 प्रतिशत छात्र औपचारिक प्रक्रीय चिंतन अवस्था तक पहुंचने में असमर्थ होते हैं।

लासन और रेनर (1975) और रेनर इत्यादि (1978) ने विषयवस्तु और बालकों की संज्ञानात्मक अवस्थाओं के संबंधों को देखने का प्रयास किया। लासन और रेनर ने पाया कि अधिगामी के संज्ञानात्मक स्तर में जैसे वृद्धि होती है वैसे- वैसे उनके द्वारा मूर्त एवं अमूर्त प्रत्यय वाले प्रश्नों के सही- सही उत्तर दिये जाने की संभावनाओं में वृद्धि होती है। रेनर इत्यादि (1978) ने पाया कि विद्यार्थियों का अधिकांश भाग माध्यमिक स्तर पर मूर्त चिंतन का प्रयोग करता है। अतः मूर्त चिंतकों को समायोजित करने के लिए माध्यमिक पाठ्यक्रम से ऐसे प्रकरणों को हटाना होगा जो मूलतः अमूर्त चिंतन की मांग करते हैं।

लोवेल (1979) ने मूर्त एवं अमूर्त चिंतन में पदानुक्रम वर्गीकरण प्रकरण पर अनुसंधान के दौरान पाया कि समस्या समाधान के दौरान पाये गये मूर्त चिंतन वाले व्यक्तियों का पदानुक्रम वर्गीकरण परीक्षण पर कठिनाई का अनुभव हुआ। जबकि रोवेल और डाउसन (1977) ने पाया कि डूबने एवं तैरने के प्रत्यय से संबंधित प्रश्नों का सही उत्तर विद्यार्थियों से प्राप्त होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें आयतन एवं भार संरक्षण प्रत्यय का विकास हुआ है अथवा नहीं। कावनाफ (1973) ने चाल सम्प्रत्यय को लेकर यह देखने का प्रयत्न किया कि इस प्रत्यय की समझ विकसित करने के लिए बच्चों को विकास के किस क्रम से गुजरन पड़ता है। उन्होंने देखा कि इसका क्रम पियाजे के पाँचों कार्यों से भिन्न क्रम में है।

थील (1973) ने मूर्त प्रक्रीय चिंतन वाले विद्यार्थियों द्वारा भविष्यवाणी करने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले घटकों का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि ऐसे बच्चों ने क्रम नियम (सिरिएशन) की अपेक्षा वर्गीकरण नियम का उपयोग भविष्यवाणी करने मे किया। स्मिथ (1973) ने लेप्टान एवं विद्युत आवेश के संरक्षण सिद्धान्त को अभिक्रमित अनुदेशन के माध्यम से बढ़ाकर देखा कि इस ज्ञान का स्थानान्तरण संवेग संरक्षण के सिद्धान्त को पढ़ने में न के बराबर हुआ।

कोलवर्ग और गिलीगन (1971) ने अपने अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि माध्यमिक स्तर का नवीन पाठ्यक्रम छात्रों में औपचारिक चिंतन विकसित करने

के बजाय इसी को आधार मानकर निर्मित किया गया है।

भारत में संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में की गई शोधों में रथ (1979) राव और रेड्डी, संदीप (1979), रथ और पटनायक (1979), पद्मिनी (1980) और संधू (1981) के शोधकार्य उल्लेखनीय है। इनमें राव और रेड्डी का कार्य ही सम्प्रत्यय निर्माण से संबंधित है। उन्होंने पाया कि द्रव्यमान एवं भार संरक्षण सम्प्रत्यय का विकास बच्चों में 7 वर्ष की अवस्था में ही हो जाता है जबकि आयतन संरक्षण प्रत्यय का विकास छात्रों में विलम्ब से होता है। उन्होंने यह भी पाया कि विभिन्न संरक्षण सम्प्रत्यय का विकास छात्रों में असंतत होता है। उपरोक्त संबंधित साहित्य के अवलोकन से निम्नलिखित बाते उभर कर सामने आती हैं-

1. माध्यमिक स्तर पर मूर्त प्रक्रीय छात्रों का बाहुल्य है।
2. माध्यमिक विज्ञान पाठ्यक्रम माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के लिए उपयुक्त नही है।
3. विशेष विषयवस्तु विशेष संज्ञानात्मक स्तर के छात्रों के लिए उपयुक्त होती है एवं उनमें उचित उपलब्धि की वृद्धि करने में सक्षम होती है।

समस्या कथन

संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में हुए अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों एवं छात्रों का संज्ञानात्मक स्तर एक दूसरे से बहुत ही निकट का संबंध रखते हैं। पद्मिनी (1980) ने प्राइमरी विद्यालयों के विद्यार्थियों में वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों के शिक्षण से संज्ञानात्मक बढ़ाने में भी सफलता प्राप्त की है। विज्ञान विद्यालयी स्तर पर पाठ्यक्रम में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान पा भी चुका है। विदेशों में पी० एस० एस० सी० एवं प्रोजेक्ट भौतिकी के आधुनिक पाठ्यक्रम को जहां बदला जा रहा है वहीं भारत में उन्हीं की विषय वस्तुओं को पाठ्यक्रम में रखकर पाठ्यक्रम को आधुनिक बनाया जा रहा है। विद्यालयी स्तर पर प्रायः मूर्त प्रक्रीय छात्र होते हैं एवं ये छात्र अमूर्त सम्प्रत्ययों को समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। आज का जूनियर हाई स्कूल एवं हाई स्कूल का वैज्ञानिक पाठ्यक्रम छात्रों की समझ स्तर से परे एवं अनुपयुक्त है। शोधकर्ता के मन में सदैव यह उत्कंठा रही कि हमारे यहाँ विद्यालयी स्तर पर छात्रों के संज्ञानात्मक स्तर की स्थिति क्या है ? इस स्तर पर विज्ञान पाठ्यक्रम के जो सम्प्रत्यय उन्हे पढ़ाये जा रहे है क्या वे उसके लिए पर्याप्त संज्ञानात्मक स्तर अपने में विकसित कर चुके हैं ? पाठ्यक्रम में प्रकरणों को सिखाने का जो क्रम रखा गया है क्या उस क्रम में और उन प्रकरणों को पढ़ने वाले छात्रों में जो विकास का क्रम है उसमे कोई तालमेल है ? इन्हीं समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से शोधकर्ता ने प्रस्तुत प्रकरण "छात्रों के संज्ञानात्मक विकास के परिप्रेक्ष्य में विद्यालयी विज्ञान पाठ्यक्रम के कुछ वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों का पदानुक्रमीय अध्ययन" पर कार्य किया। शोध के प्रमुख दो उद्देश्य निम्नलिखित है :

1. जूनियर हाई स्कूल स्तर से उत्तीर्ण होकर निकलने वाले छात्रों के संज्ञानात्मक विकास की स्थिति ज्ञात करना।
2. जूनियर हाई स्कूल के अंतिम स्तर के विज्ञान पाठ्यपुस्तक में से कुछ वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों का चुनाव कर उनका छात्रों के संज्ञानात्मक विकास के परिप्रेक्ष्य में पदानुक्रमीय अध्ययन करना।

समस्या से संबंधित परिभाषाएं

संज्ञानात्मक विकास : इससे तात्पर्य है बच्चों के विकास के विभिन्न बिंदुओं पर ज्ञान के विकास की प्रक्रिया। इसे व्यक्ति द्वारा अपने संसार को समझने के तौर- तरीकों एवं क्षमताओं के विकास की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन हेतु पूर्व वर्णित संज्ञानात्मक विकास के पियाजे माडल को स्वीकार किया गया है। छात्रों की संज्ञानात्मक स्थिति को लासन (1978) के कक्षा परीक्षण

पर उनके प्राप्तांकों से देखा गया है।

पदानुक्रमीय अध्ययन : इससे तात्पर्य है कि विभिन्न सम्प्रत्ययों को छात्र किस- किस कठिनाई स्तर का मानते हैं। कठिनाई के आरोही क्रम में किसी सम्प्रत्यय का क्रम उसका पदानुक्रम कहा गया है।

विधि : प्रस्तुत अध्ययन हेतु 300 छात्र/छात्राओं का एक यादृच्छिक प्रतिशत गोरखपुर शहर के जूनियर हाई स्कूल के कक्षा 8, सत्र 1989-90 की परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियों में से लिया गया। शैक्षिक सत्र के अंतिम महीने में शोधकर्ता द्वारा रूपान्तरित एवं परिष्कृत लासन का औपचारिक चिन्तन का कक्षा परीक्षण (हिंदी) उक्त प्रतिदर्श पर प्रशासित किया गया। छात्रों की अनुक्रियाओं का अंकन परीक्षण के साथ प्रदत्त कुंजी से किया गया। परीक्षण प्राप्तांकों के आधार पर छात्रों को मूर्त प्रक्रीय (0-5) संक्रमण प्रकीय (6-11) एवं औपचारिक प्रक्रीय (12 अंक से अधिक) वर्गों में रखा गया। इसके पश्चात् सम्प्रत्ययों के पदानुक्रम देखने हेतु प्रत्येक वर्ग से 15-15 छात्र पुनः यादृच्छिक ढंग से चुने गये। इन बच्चों को वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों की एक सूची दी गई जिसे जूनियर हाई स्कूल के प्रारंभिक विज्ञान भाग- 3 के भौतिकी से संबंधित प्रकरणों से तैयार किया गया था। इस सूची को एक मापनी का रूप दिया गया था जिसमें प्रत्येक सम्प्रत्यय के सम्मुख अत्यधिक कठिन, सामान्य, सरल एवं अत्याधिक सरल लिखित ब्लाक बने थे। छात्रों को अपनी अनुक्रिया इन्हीं ब्लाकों में अंकित करनी थी।

उपकरण : प्रस्तुत अध्ययन हेतु दो उपकरणों का उपयोग किया गया, जिनमे प्रथम उपकरण लासन (1978) का शोधकर्ता द्वारा परिष्कृत एवं हिन्दी रूपान्तरित औपचारिक चितन का कक्षा परीक्षण है। इस परीक्षण में कुल 16 प्रश्न हैं जिसमें "दण्ड- तुला" से सबंधित एक उदाहरण प्रश्न है। अन्य प्रश्न क्रमशः प्लास्टीसिन के गोले, धातु वॉट, नपना गिलास- 1, नपना गिलास- 2, लोलक की लम्बाई, लोलक का भार, दण्डतुला- 1, दण्डतुला- 2, गोले- 1, गोले- 2, बल्व एवं स्विचों से युक्त बाक्स, दुकान केंद्र, वर्गीकृत आकृतियां वर्गाकार एवं समुचित भुजाकार आकृतियां- 1, वर्गाकार एवं समचतुर्भुजाकार आकृतियां- 2, प्रदर्शनीय प्रयोग से संबंधित हैं। इस परीक्षण की विशेषता है कि परीक्षणकर्ता को प्रश्न से संबंधित प्रयोग प्रदर्शित करना पड़ता है एवं उसे प्रदर्शन के दौरान समस्यात्मक प्रश्न प्रस्तुत कर छात्रों की लिखित अनुक्रिया उत्तर- पत्र में लेनी पड़ती है। छात्र उत्तर- पत्र में अपनी अनुक्रिया का स्पष्टीकरण भी देते हैं। इस परीक्षण का अधिकतम अंक 15 है। इस परीक्षण की विश्वसनीयता 6 पाई गई। विभिन्न बुद्धि परीक्षणों से इसकी वैधता 4 से 6 के बीच पाई गयी।

जैसा कि बताया गया है, द्वितीय उपकरण वैज्ञानिक संप्रत्ययों को लेकर एक मापनी का रूप दिया गया है जिसका उद्देश्य सम्प्रत्ययों की कठिनता स्तर को ज्ञात करना है। मापनी में अत्यधिक कठिन, कठिन, सामान्य, सरल एवं अत्यधिक सरल अंकित पांच बिन्दु हैं। छात्रों की अनुक्रियाओं के अंकन हेतु अत्यधिक कठिन, कठिन, सामान्य, सरल एवं अत्यधिक सरल अनुक्रियाओं को क्रमशः 5, 4, 3, 2 और 1 अंक प्रदान किये गये हैं। वैज्ञानिक संप्रत्यय प्रारंभिक विज्ञान भाग- 3 के भौतिकी खण्ड के समस्त प्रकरण हैं। उक्त सम्प्रत्यय पुस्तक में निम्नलिखित क्रम में दिये गये हैं :

1. दोलन, तरंगगति तथा ध्वनि
2. तरल पदार्थों में उत्प्लावन
3. ऊर्जा
4. ऊष्मा एवं आंतरिक ऊर्जा
5. प्रकाश
6. विद्युत धारा
7. परमाणु संरचना

परिणामों की व्याख्या

गोरखपुर शहर के जूनियर हाई स्कूल उत्तीर्ण होने वाले छात्रों के हिन्दी रूपान्तरित एवं परिष्कृत लासन के औपचारिक चिंतन के कक्षा परीक्षण के प्राप्तांकों का वितरण सारिणी 1 मे प्रदर्शित किया गया है।

सारिणी- 1 के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि वितरण में धनात्मक वैषम्यहै। छात्र, छात्राओं एवं सम्पूर्ण प्रतिदर्श में वितरण का बहुलांक स्पष्टतः वर्गान्तर में दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि संज्ञानात्मक स्केल के न्यून माप की तरफ विद्यार्थियों का घनत्व अत्यधिक है।

सारिणी 1

लासन के औपचारिक चिंतन परीक्षण प्राप्तांकों का लिंगानुसार वितरण

परीक्षण प्राप्तांक वर्ग/लिंग	0-2	3-5	6-8	9-11	12-14	योग
पुरुष	103	51	20	15	11	200
स्त्री	55	23	8	8	6	100
योग	158	74	28	23	17	300

सारिणी 2

विभिन्न संज्ञानात्मक अवस्थाओं में छात्र/छात्रा विवरण

संज्ञानात्मक अवस्थाए / लिंग	मूर्त प्रक्रीय	सक्रमण प्रक्रीय	औपचारिक प्रक्रीय	योग
छात्र	154	35	11	200
	(77)	(17 5)	(5 5)	
छात्राए	78	16	6	100
	(78)	(16)	(6)	
योग	232	51	17	300
	(77 33)	(17)	(5 67)	

लासन के परीक्षण प्राप्तांकों के आधार पर छात्रों को मूर्त प्रक्रीय, संक्रमण प्रक्रीय एवं औपचारिक प्रक्रीय अवस्थाओं मे वर्गीकृत किया गया जिसका विवरण सारिणी-2 में प्रदर्शित किया गया है। इस सारिणी में कोष्ठक मे लिखी गई संख्याएं प्रत्येक लिंग में प्रतिशत संख्या व्यक्त करती हैं।

सारिणी 2 से स्पष्ट होता है कि छात्र, छात्राओं एवं समस्त प्रतिदर्श में बहुलांक मूर्त प्रक्रीय अवस्था में पड़ रहा है। तीनों अवस्थाओं मूर्त प्रक्रीय, संक्रमण प्रक्रीय एवं औपचारिक प्रक्रीय अवस्थाओं में छात्रों के प्रतिशत क्रमशः 77,17.5 एवं 5.5 है। इन प्रतिशतों की मानक त्रुटियां क्रमशः 2.97, 2 68 एवं 1 61 पाई गई जो अल्पल्य हैं एवं प्राप्त प्रतिशतों पर विश्वास किये जाने को बल प्रदान करती है। छात्राओं की स्थिति में तीनों अवस्थाओं में उनके प्रतिशत क्रमशः 78, 16 एवं 6 मिले। इन प्रतिशतों की मानक त्रुटियां क्रमशः 2.84, 3.66 एवं 2 37 प्राप्त हुई। अतः छात्र, छात्राओं दोनों स्थितियों में जूनियर हाईस्कूल के प्रस्तुत प्रतिदर्श में मूर्त प्रक्रीय छात्र 77% से अधिक पाये गये। दोनों वर्गों के लिए औपचारिक प्रक्रीय छात्र मात्र 6 या इससे भी कम प्रतिशत पाये गये। यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि हमारे यहां कक्षा 8 उत्तीर्ण करने वाले छात्र मूर्त प्रक्रीय अवस्था में होते है। रेनर इत्यादि (1978) के परिणाम इसकी पुष्टि करते हैं।

छात्र एवं छात्राओं की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तरों की तुलना हेतु क्रान्तिक अनुपात की भी गणना की गई। प्राप्त क्रान्तिक अनुपात अत्यन्त अल्प रहे जिससे किसी भी अवस्था में .05 विश्वसनीयता स्तर पर भी सार्थक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

लासन परीक्षण पर प्राप्तांकोंके वितरण से मध्यमान, मानक विचलन, मध्यमानों की मानक त्रुटियों की गणनाएं की गईं। इनके विवरण सारिणी 3 में प्रदर्शित हैं।

सारिणी - 3 से स्पष्ट है कि छात्र एवं छात्राओं के मध्यमान लगभग एक समान है। इनके अन्तरों का क्रांतिक अनुपात .14 प्राप्त हुआ, जो कि बताता है कि छात्र एवं छात्राओं के मध्यमानों में 0.5 विश्वसनीयता स्तर पर भी अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अतएव कहा जा सकता है कि लासन के औपचारिक चिंतन के कक्षा परीक्षण पर छात्र एवं छात्राओं के निष्पादन में कोई सार्थक भेद नही है। अभी तक किये गये शोधों में संज्ञानात्मक विकास के मूर्त प्रकीय एवं औपचारिक प्रक्रीय स्तरों में लिंग की भूमिका स्पष्टतः नहीं देखी गई है।

जूनियर हाई स्कूल पारंभिक विज्ञान भाग - 3 के भौतिकी से संबंधित दीर्घ प्रत्ययों के विषय में विभिन्न संज्ञानात्मक अवस्था वाले विद्यार्थियोयं की पदानुक्रम मापनी पर प्राप्त अनुक्रियाओं का आकलन किया गया। प्रत्येक सम्प्रत्यय पर विद्यार्थियों के अंकों का योग निकाला गया।

सारिणी 3

लासन परीक्षण प्राप्तांकों का मध्यमान, मानक विचलन एवं मध्यमानों की मानक त्रुटियों का विवरण

सांख्यिकी / लिंग	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मध्यमान की मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात
छात्र	200	3 55	3 48	24	14
छात्राएं	100	3.61	3.63	.36	

इस योग को आरोही क्रम में व्यवस्थित किया गया। न्यूनतम योग वाले सम्प्रत्यय से उत्तरोत्तर अधिक योग वाले सम्प्रत्यय को क्रमशः 1, 2, 3, 4, 5, 6 और 7 अंक दिये गये जिन्हे इन सम्प्रत्ययों का पदानुक्रमीय अंक कहा गया। प्रत्येक समूह के लिए इन सम्प्रत्ययों का पदानुक्रमीय विवरण सारिणी 4 में प्रदर्शित किया गया है।

सारिणी 4 से स्पष्ट दृष्टगोचर होता है कि प्रारंभिक विज्ञान भाग-3 में भौतिकी खण्ड में सम्प्रत्ययों को दिये गये क्रमों एवं विभिन्न संज्ञानात्मक स्तर वाले विद्यार्थियों के द्वारा दिये गये क्रमों में भिन्नता है। परमाणु संरचना सम्प्रत्यय को पुस्तक में सातवे पदानुक्रम पर रखा गया है जबकि समस्त अवस्था वाले छात्रों ने उसे प्रथम पदानुक्रम पर रखा है। इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि परमाणु संरचना एक औपचारिक प्रक्रीय सम्प्रत्यय है परन्तु इसे कक्षा शिक्षण के समय मूर्त प्रक्रीय सम्प्रत्यय के रूप में देखा जाता है, चूंकि जूनियर हाई स्कूल पर कक्षा-8 उत्तीर्ण हो रहे छात्र प्रायः मूर्त प्रक्रीय अवस्था वाले होते हैं, फलतः इन्हें परमाणु संरचना सम्प्रत्यय एक सरल सम्प्रत्यय प्रतीत हुआ। फलस्वरूप इस सम्प्रत्यय को छात्रों ने पदानुक्रम 1 पर रखा। संक्रमण अवस्था वाले छात्रों के अतिरिक्त सभी अवस्था के विद्यार्थियों ने ध्वनि सम्प्रत्यय को जिसे पुस्तक मे प्रथम क्रम में रखा गया है पांच अथवा छः पदानुक्रम पर रखा। इसका संभावित कारण यह है कि ध्वनि एक मूर्त प्रक्रीय सम्प्रत्यय होते हुए भी इससे सबंधित उप-सम्प्रत्ययों तरंग गति, ध्वनि की चाल इत्यादि को पुस्तकों मे प्रायः अमूर्त रूप से प्रस्तुत किया जाता है। अध्यापक इसका शिक्षण अमूर्त रूप से ही करते हैं। फलस्वरूप छात्रों ने इसे कठिन प्रकरण मानकर पांचवें या छटे पदानुक्रम पर रख दिया। उत्प्लावन एवं ऊर्जा सम्प्रत्ययों को क्रमशः संक्रमण एवं संयुक्त समूह तथा संक्रमण एवं औपचारिक प्रक्रीय समूह ने वही क्रम प्रदान

सारिणी 4

सम्प्रत्ययों का पदानुक्रम विवरण, विभिन्न संज्ञानात्मक अवस्थाओं के अनुसार

दीर्घ सम्प्रत्यय	पुस्तकीय पदानुक्रम	विभिन्न संज्ञानात्मक विकास की अवस्था वाले छात्रों द्वारा प्रदत्त पदानुक्रम			
		मूर्त प्रक्रीय	संक्रमण प्रक्रीय	औपचारिक प्रक्रीय	संयुक्त क्रम
ध्वनि	1	5	2	6	5
उत्प्लावन	2	3	2	4	2
ऊर्जा	3	2	3	3	2
ऊष्मा	4	4	5	5	6
प्रकाश	5	5	3	3	4
विद्युत धारा	6	3	4	2	3
परमाणु संरचना	7	1	1	1	1

किया है जो क्रम पुस्तक में दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि पुस्तक मे समप्रत्ययों को दिया गया क्रम प्रायः छात्रों द्वारा दिये गये क्रम से भिन्न है। सम्प्रत्ययों पर दृष्टिपात करने पर मालूम पड़ता है कि प्राय: समस्त प्रत्यय अमूर्त प्रत्यय हैं। रेनर एवं ग्रांट (1578) ने समस्या "क्या छात्र भौतिकी के प्रत्ययों को समझ सकते हैं ?" पर अध्ययन के दौरान पाया कि माध्यमिक स्तर पर विज्ञान पाठ्यपुस्तकों में समस्त सम्प्रत्यय औपचारिक या अमूर्त प्रक्रीय हैं। जिन्हे औपचारिक प्रक्रीय अवस्था वाले छात्र ही समझ सकते हैं। अतः मालूम पड़ता है कि पाठ्यक्रम निर्माताओं ने अमूर्त प्रक्रीय प्रत्ययों को पाठ्यक्रम में जबरन बेतरतीब ढंग से रख दिया है, जिससे पाठ्यक्रम अनावश्यक रूप से बोझिल हो गया है। फलतः बौद्धिक रूप से सुकुमार छात्रों को उसे घसीटना पड़ता है।

शैक्षिक महत्व

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य पाठ्यक्रम निर्माताओं का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि जूनियर हाई स्कूल स्तर पर मूर्त प्रक्रीय संज्ञानात्मक अवस्था वाले छात्र ही होते है। इन छात्रों की समप्रत्ययों को समझने की एक सीमा होती है। अतएव पाठ्यक्रम निर्माण के समय विषयवस्तु का चयन छात्रों की संज्ञानात्मक अवस्था के अनुरूप रखे जाने की आवश्यकता है। साथ ही विषयवस्तु का क्रम तार्किक न रखकर मनोवैज्ञानिक रखना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को क्रमशः पढ़ने एवं पढ़ाने में मदद मिले।

पाठ्यक्रम निर्माता पाठ्यवस्तु में उच्च कक्षाओं के प्रकरण को लाकर प्रायः रख दिया करते हैं, जिससे पाठ्यक्रम गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों रूपों में बोझिल हो जाता है। प्रस्तुत अध्ययन उन्हें इस प्रवृत्ति के प्रति आगाह करता है। पाठ्यक्रम निर्माताओं को चाहिए कि पाठ्यक्रम के नये सम्प्रत्यय के स्थान पर वर्तमान सम्प्रत्यय से जुड़े एवं उन पर आधारित आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों एवं मशीनों को स्थान दें जिससे हमारे छात्रों की वैज्ञानिक अभिरुचि भी बढ़ेगी एवं उनके ऊपर मानसिक बोझ भी नहीं बढ़ेगा। उन्हें यह ध्यान रखना है कि अनिवार्य पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विद्यार्थियों को सामान्य वैज्ञानिक बातों से परिचित कराना है, उन्हें विज्ञान विषय में विशेषज्ञ नही बनाना है।

प्रस्तुत अध्यन जूनियर हाई स्कूल के अध्यापकों के लिए भी महत्वपूर्ण है। यह उन्हें प्रेरित करता है कि विषयवस्तु के शिक्षण के समय ऐसी शिक्षण निधियों एवं सहायक सामग्रियों का उपयोग करे जो मूर्त प्रक्रिया की अवस्था के बच्चों के लिए उपयुक्त हो।

मूल्यांकन कर्ताओं के लिए भी प्रस्तुत अध्ययन उपयोगी है। यह उन्हें जूनियर हाई स्कूल स्तर पर परीक्षणों के निर्माण में मूर्त प्रक्रिया- विषयवस्तु से संबंधित प्रश्नों को रखने के लिए प्रेरित करता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जूनियर हाई स्कूल स्तर पर प्रायः छात्र मूर्त प्रक्रीय अवस्था के है। वर्तमान विज्ञान पाठ्यक्रम में विषयवस्तु उनकी संज्ञानात्मक अवस्था को ध्यान में रखकर नही रखी गयी है एवं विषयवस्तु का संगठन छात्रों के विषयवस्तु सीखने के मनोवैज्ञानिक क्रम को ध्यान में रखकर नही किया गया है। अतएव जूनियर हाई स्कूल के विज्ञान पाठ्यक्रम के पुनर्गठन की आवश्यकता है। अध्यापकों एवं मूल्यांकन कर्ताओं को अपनी प्रविधियों को छात्रों के संज्ञानात्मक विकास को दृष्टिगत रखते हुए नियोजित करने की आवश्यकता है। विज्ञान पाठ्यक्रम बिना छात्रों की उस पर अनुक्रिया देखे लागू नहीं किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. इनहेल्डर बी० और पियाजे, जे० **दी ग्रोथ आफ लाजिकल थिंकिंग फ्राम चाइल्डहुड टू एडोलीसेंस**, न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1958, पृष्ठ 339-342.

2 कारप्लस, आर० और कारप्लस, ई०, इन्टेलेक्चुअल डिवलपमेण्ट बियांड एलीमेण्टरी स्कूल I, डिडक्टिव लाजिक, **स्कूल साइंस और मैथेमेटिक्स**, 1970, 5, पृ० 398-406.

3. कारप्लस, आर० और पीटर्सन, आर० डब्ल्यू०, इन्टेलेक्चुअल डिवलपमेंट बियांड एलीमेण्टरी स्कूल- II रेशियो, ए सर्वे। **स्कूल साइंस और मैथेमेटिक्स** 1970, 5, पृ० 813-820.

4. कोलबर्ग, एल० और सी० गालीगन, **दी एडोलीसेंट एज ए फिलासफर : दी डिसकवरी आफ सेल्फ इन ए पोस्ट कनवेन्शनल वर्ल्ड**। डेडालस, 1971, पृ० 1051-1806.

5. कावनाक, डी० सी०, ऐन इनवेस्टीगेशन आफ पोर्सन्स आफ ए मॉडल हाइरार्की फार दी एक्वीजिसन ऑफ दी कानसेप्ट आफ स्पीड। डिजर्टेशन ऐब्सट्रेक्ट : 1973 वाल्यूम 33 12, पृ० 6746 ए.

6. डेल, एल० जी० "दी ग्रोथ आफ सिस्टेमेटिक थिंकिंग : रिप्लीकेशन ऐण्ड एनालिसिस आफ पियाजेज फर्स्ट केमिकल एक्सपेरिमेण्ट।" **आस्ट्रेलियन जर्नल आफ साइकोलोजी**, 1970, 20,पृ० 277-285.

7. थील, आर० पी० ऐन इनवेस्टीगेशन टू डिवलप ए प्रोवेलिस्टिक इक्वेशन आफ परफार्मेंस इन रिलेशन टू दी फैक्टर्स दैट अफैक्ट दी यूज आफ दी साइंस प्रोसेस स्किल आफ प्रिडिक्शन बाई एलीमेन्टरी स्कूल चिल्ड्रेन। डिजेर्टेशन ऐब्सट्रैक्ट्स, 1973, वाल्यूम 34 : 4, पृ० 1503 ए.

8 पद्मिनी, टी०, **फास्टरिंग कागनीटिव डिवलपमेंट इन प्राइमरी स्कूल**। वाटरी पबिलकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1983

9 पियाजे, जे०, **दी साइकोलोजी आफ इनटेलिजेंस**। पैटर्सन न्यू जेरेसी, लिटिफील्ड, एडम्स एण्ड कं०, 1966, पृ०-123.

10. फ्रायोट, एफ०ई०, **दी रिलेशनशिप बिटवीन ऐन इन्क्वायरी टीचिंग अप्रोच एण्ड इनटेलेक्चुअल डिवलपमेंट,** अनपब्लिश्ड डाक्टोरल डिजर्टेशन, यूनीवर्सिटी आफ आक्लाहोमा, 1970

11. बुच, एम० बी०, **ए सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन,** केस, बड़ौदा, 1974.

12 बुच, एम० बी०, **सेकण्ड सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन**। सोसाइटी फार एजूकेशनल रिसर्च एण्ड डिवलपमेण्ट, बड़ौदा, 1978

13. बुच, एम० बी०, **थर्ड सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन,** एन०सी०ई०आर०टी, नई दिल्ली, 1983.

14. मैक्कनिन, जे० डब्ल्यू और जे० डब्ल्यू रेनर, "आर कालेजेज कनसर्न्ड विथ इनटेलेक्चुअल डिवलपमेण्ट ?" **अमेरिकन जर्नल आफ फिजिक्स**, 1971, 39,पृष्ठ 1047-1052.

15. रेनर, जे० डब्ल्यू, रोजली एम० ग्राण्ट और जान सदरलैण्ड, "कन्टेण्ट एण्ड कांक्रीट थाट।" **साइंस एजूकेशन** 1978, 62 (2),पृष्ठ - 215-221.

16. रेनर, जे. डब्ल्यू और डी० जी० स्टैफोर्ड, **टीचिंग साइंस इन सेकेण्डरी स्कूल**, न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो

पब्लिशर्स, 1973, पृष्ठ 291-296

17. रोवेल, जे० ए० एण्ड सी० जे० डाउसन, "टीचिंग एबाउट फ्लोटिंग एण्ड सिकिंग, फरदर स्टडीज टुवर्ड्स क्लोजिंग दी गैप बिटवीन कागनिटिव साइकोलोजी एण्ड क्लासरूम प्रैक्टिसेज", **साइंस एजूकेशन**, 1977, 61 (4) पृ० 527-540.

18. लासन, ए० ई०, "दि डिवलपमेण्ट एण्ड वैलिडेशन ऑफ क्लासरूम टेस्ट आफ फार्मल रीज़निंग", **जे० आर० एस० टी०**, 1978, 15, (2) पृ० 11-24.

19 लासन, ए० ई० और जे० डब्ल्यू रेनर, "रिलेशनशिप ऑफ साइंस सब्जेक्ट मैटर एण्ड डिवलपमेण्टल लेवल्स आफ लर्नर्स", **जे० आर० एस० टी०**, 1975, 12, (4) पृ० 347-358 .

20. लोवेल, के० ए० "फालोअप स्टडी ऑफ इनहेल्डर एण्ड पियाजेज, : दी ग्रोथ आफ थिंकिंग", **ब्रिटिश जर्नल आफ साइकोलोजी**, 1961, 52, पृ० 143-153.

21 लोवेल, वाटर ई०, ए स्टडी ऑफ हाइरार्किकल क्लासिफिकेशन इन कांक्रीट एण्ड एब्स्ट्रेक्ट थाट, **जे० आर० एस० टी०**, 1979, 16 (3) पृ० 255-262

22. स्मिथ, फ्रेंक ए०, "दी इफेक्ट आफ लर्निंग दी कनजर्वेशन आफ बेरियान्स, लेप्टान्स एण्ड चार्जेज आन दी लेटर लर्निंग दी कनजर्वेशन आफ लीनियर मोमेण्टम", **डिजर्टेशन ऐब्सट्रेक्ट**, 1973, 34·4, पृ० 1731 ए.

23. हिगेन्स ट्रेक, ए० और ए० जे० एच० गेट, **इल्यूसिवनेस आफ फार्मल आपरेशनल थाट** : प्रोसीडिंग्स, सेवेन्टीनाइंथ ऐनुअल कनवेंशन, अमेरिकन साइकोलोजिकल एसोसिएशन 1971, पृ० 201-202.

शैक्षिक दूरदर्शन के उपयोग की प्रासंगिकता

प्रदीपचन्द्र शुक्ला

प्रवक्ता, शिक्षा संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दूरदर्शन पर शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। आवश्यकता इस बात की भी होती है कि कार्यक्रमों की प्रस्तुति के समय अध्यापक स्वतः भी उपस्थित हो और कार्यक्रम के संदर्भ में पूर्व भूमिका प्रस्तुत कर दी जाये। इसके लिए आवश्यक है कि अध्यापक शैक्षिक दूरदर्शन के माध्यमों के बारे में पूर्ण प्रशिक्षित हो।

आज हमारा समाज 21वी सदी के द्वार पर दस्तक दे रहा है। ज्ञान- विज्ञान, तकनीकी और उद्योग ने समाज और सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। जो आज है उसका स्वरूप कल भी वैसा रहेगा, कहा नहीं जा सकता। सामाजिक परम्पराओं और मान्यताओं मे परिवर्तन आया है, सामाजिक सस्थाओं और संगठनों मे परिवर्तन आया हैं। समाज और समाज के मूल्यों मे परिवर्तन आया है। बाजार मे नित्य नये सामान आ रहे है। परम्परागत सामग्रियों के स्वरूप मे भी परिवर्तन आ रहा है। सभी वस्तुओं को उपभोक्ता की आवश्यकता के अनुरूप बनाने का प्रयास किया जा रहा है। यहां तक की विवाह और विवाह जैसे अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में भी परिवर्तन आ गया है। परन्तु हमारी शिक्षा पद्धति, विशेषकर छोटे शहरों और ग्रामीण अंचलों की शिक्षा पद्धति या शिक्षण विधि अब भी लोगों को मैकाले युग की याद दिलाती है।

विश्व के परिप्रेक्ष्य मे, आज हम कहते हैं कि हम उपग्रह युग मे प्रवेश कर गए हैं, परन्तु अगर कस्बों के राजकीय विद्यालयों, चाहे वे प्राथमिक हों या माध्यमिक, को देखा जाये तो राष्ट्र की मलीन, दरिद्रता से परिपूर्ण, अनुशासन के अभाव मे सिसक रही शिक्षा व्यवस्था ही दृष्टिगोचर होती है। शिक्षा के उद्देश्य एवं लक्ष्य, शिक्षा का पाठ्यक्रम आदि केवल शिक्षण प्रशिक्षण सस्थानों के अध्ययन एवं अध्यापन की विषयवस्तु मात्र बन कर रह गयी है। शायद इसीलिए ईवान यूलिच ने "डी स्कूलिग" की बात कही होगी तो सिल्बामन ने "री- स्कूलिंग" और राईमर ने "स्कूल इज डेड" या विद्यालयों को स्पन्दन विहीन कहा होगा।

आज हमारे देश मे 7,35,785 मान्यता प्राप्त माध्यमिक स्तर के विद्यालय है जिनमे से 6,34,719 ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित है। लगभग 5, 29, 392 प्राथमिक विद्यालय हैं। 1978 से लेकर 1986 तक लगभग 16.03 प्रतिशत माध्यमिक विद्यालयों मे वृद्धि हुई और प्राथमिक विद्यालयों की सख्या मे 11.54 प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्राथमिक विद्यालयों मे पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 8,66,83,289 है जिसमे लगभग 26.36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इन विद्यालयों मे अध्यापकों की संख्या 36,92,751 है जिसमे 25.59 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यदि इन विद्यालयों में छात्र अध्यापक का अनुपात देखा जाये तो यह 44 छात्रों पर एक अध्यापक का है। किन्ही-किन्ही प्रान्तों मे यह औसत अनुपात एक अध्यापक और 61 (गुजरात) विद्यार्थियों का है। लगभग 13.50 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालय भवन विहीन है। सरकार एव समाज सेवी सगटनों के अथक प्रयासों और

शिक्षा के संख्यात्मक प्रसार के बावजूद, आज भी हम शिक्षा में गुणात्मक ह्रास की बात करते हैं।

आजादी के बाद से ही सरकार ने गुणात्मक ह्रास को समाप्त करने के लिए कई आयोगों का गठन भी किया, किन्तु शिक्षा का लाभ आम आदमी तक, न्यायसंगत और एक समान रूप में नहीं पहुंच सका है। 1985 की नई शिक्षा नीति ने भी इस स्थिति को समझा था। "1968 की राष्ट्रीय नीति, आजादी के बाद के शिक्षा के इतिहास में एक अहम कदम थी। उसका उद्देश्य राष्ट्र की प्रगति को बढ़ाना तथा सामान्य नागरिक व संस्कृति और राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करना था। उसमें शिक्षा प्रणाली के सर्वांगीण पुनर्निर्माण तथा हर स्तर पर शिक्षा की गुणवत्ता को ऊँचा उठाने पर जोर दिया गया था। साथ ही, उस शिक्षा नीति में विज्ञान और प्रोद्योगिकी पर, नैतिक मूल्यों को विकसित करने पर तथा शिक्षा और जीवन में गहरा रिश्ता कायम करने पर ध्यान दिया गया था किन्तु स्थिति जस- की- तस बनी हुई है।" इसी संदर्भ मे नई नीति (1985) आगे कहती है कि 1968 की शिक्षा नीति के अधिकांश सुझाव कार्यरूप में परिणित नहीं हो सके, क्योंकि क्रियान्वयन की पक्की योजना नहीं बनी, न स्पष्ट दायित्व निर्धारित किए गए और न ही वित्तीय एवं सगठन संबंधी व्यवस्थाएं हो सकीं। नतीजा यह हुआ कि विभिन्न वर्गो तक शिक्षा को पहुँचाने, उसका स्तर सुधारने और विस्तार करने और आर्थिक साधन जुटाने जैसे महत्वपूर्ण काम नहीं हो पाए और आज इन कमियों ने एक बड़े अम्बार का रूप धारण कर लिया है। इन समस्याओं का हल निकालना वक्त की पहली जरूरत है। शिक्षा नीति आगे कहती है, "मौजूदा हालात ने शिक्षा को एक दुराहे पर ला खड़ा किया है। अब न तो अब तक होते आये सामान्य विस्तार से, और न ही सुधार के वर्तमान तौर- तरीकों से काम चल सकेगा।" निश्चय ही शिक्षा के तौर-तरीकों में परिवर्तन लाना होगा, नये विकल्पों को तलाशना होगा। शिक्षा के नए माध्यमों को खोजना होगा। शिक्षा की नवीन विधियों का उपयोग करना होगा।

शैक्षिक दूरदर्शन का आरंभ

सबके लिए शिक्षा का नारा वर्तमान माध्यमों, उपकरणों एवं विधियों से सम्भवतः कभी भी पूरा नही होगी। इसके नये विकल्प के रूप में दूरदर्शन का जो इलेक्ट्रानिक जाल बिछा हुआ है, सम्भवतः उसकी तरफ ही शिक्षाविदों, नियोजकों और सरकार की दृष्टि है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर दूरदर्शन के भारत मे पदार्पण (15 सितम्बर, 1959) के साथ ही, 1961 में दिल्ली मे शैक्षिक कार्यक्रमों का प्रसारण दूरदर्शन के द्वारा आरंभ हुआ। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य था स्थान, प्रयोगशालाओं, उपकरणों और प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी को दूर करना। दूरदर्शन के तत्कालीन शैक्षिक प्रसारणों की उपादेयता को मूल्यांकित करने के उपरान्त पाल न्यूराथ (1968) ने पाया कि टेलीवीजन वाले विद्यालयों की उपलब्धियां उन विद्यालयों से अच्छी रहीं जहां इनका उपयोग नहीं किया जा रहा था। इससे प्रभावित होकर दिल्ली दूरदर्शन ने 1966 में कृषि शिक्षा पर आधारित कृषि दर्शन कार्यक्रम का प्रसारण आरंभ किया, जिसका लाभ कृषकों तक पहुंचा और यह प्रसारण काफी लोकप्रिय हुआ। 1975 मे मानवीय संचार के इतिहास का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण और महत्वाकांक्षी कार्यक्रम, साइट (सेटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलीविजन इक्सपेरिमेन्ट) शुरू किया गया। इस कार्यक्रम के माध्यम से दूर उपग्रह का उपयोग कर 6 प्रान्तों के 2330 गांवों को टेलीविजन के माध्यम से जोड़ा गया। इस प्रसारण मे कृषि, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, सामाजिक शिक्षा तथा हिंदी, कन्नड़, उड़िया और तेलगू भाषा में प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों के लिए कार्यक्रम का प्रसारण किया गया। यह कार्यक्रम भी काफी लोकप्रिय एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। पुनः 1977 मे इन कार्यक्रमों मे राष्ट्रीय एकता एवं भावनात्मक एकता से संबंधित कार्यक्रम का भी समन्वय किया गया। भारतीय

उपग्रह की अन्तरिक्ष में स्थापना के साथ ही इनसेट (इण्डियन नेशनल सेटेलाइट) कार्यक्रम की शुरूआत प्रभावशाली ढंग से 1983 में आरंभ हुई और बाद में 1984 में उच्च शिक्षा के भी कार्यक्रमों का प्रसारण आरंभ हुआ। इस प्रकार से शिक्षा के क्षेत्र में दूरदर्शन के माध्यम से शिक्षा को घर-घर में पहुंचाने का प्रयास किया गया। किन्तु सभी घरों में न तो टेलीविजन का उपकरण है, न ही विद्युत आपूर्ति के वितरण में कार्यक्रम के समय को प्राथमिकता दी गयी और न ही इन कार्यक्रमों का व्यापक प्रचार किया गया। अधिकांश विद्यालयों ने भी इन कार्यक्रमों के प्रति कोई विशेष रुचि का प्रदर्शन नही किया तथा इन कार्यक्रमों को किसी भी रूप मे विद्यालय के कार्यक्रम के साथ संयोजित नहीं किया जा सका।

दूरदर्शन के कार्यक्रमों में विभिन्न दृश्य-श्रव्य माध्यमों का उपयोग किया जाता है। दूरदर्शन के कार्यक्रमों के संयोजन में विभिन्न स्रोतों से सामग्री का चयन किया जाता है। दूरदर्शन की एक अपनी भाषा है जिसका उपयोग करने में अधिकतम सृजनात्मक के प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। कार्यक्रम रोचक हों , उपयोगी हों तथा सार्थक हों, यह प्रयत्न होता है, उस पूरे के पूरे समूह का जो कार्यक्रम का नियोजन और प्रसारण करता है। इन कार्यक्रमों की प्रासंगिकता तब और बढ़ सकती है जब कार्यक्रमों के निर्माण में निम्न तथ्यों पर और अधिक ध्यान दिया जाये।

शैक्षिक दूरदर्शन की गुणवत्ता में वृद्धि के उपाय

शैक्षिक दूरदर्शन के कार्यक्रम का निर्माण करते समय आयोजकों को कार्यक्रम का उद्देश्य स्पष्ट रूप से मालूम होना चाहिए। इसके लिए उद्देश्यों का निर्धारण सोच-समझ कर और विषय के विशेषज्ञों के साथ विचार-विमर्श करके निर्धारित किया जाना चाहिए। साथ ही आयोजकों एवं क्रियान्वित करने वाले लोगों को कार्यक्रम के उद्देश्यों की स्पष्ट समझ होनी चाहिए। कार्यक्रम का निरूपण करते समय इसके मूल उद्देश्यों की स्पष्ट समझ एवं उन पद्धतियों का पूर्ण ज्ञान चाहिए जिनके द्वारा मूल वस्तु को प्रदर्शित किया जा रहा है, यह कार्यक्रम को और अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली बना सकती है।

दूरदर्शन पर शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। आवश्यकता इस बात की भी होती है कि कार्यक्रम की प्रस्तुति के समय अध्यापक स्वतः भी उपस्थित हो और कार्यक्रम के संदर्भ में पूर्व भूमिका प्रस्तुत कर दी जाये। इसके लिए आवश्यक है कि अध्यापक शैक्षिक दूरदर्शन के माध्यमों के बारे में पूर्ण प्रशिक्षित हो। अप्रशिक्षित अध्यापक कार्यक्रमों की उचित व्याख्या कर सकने में असमर्थ होता है। दूरदर्शन सम्प्रेषण का एक तरफा माध्यम है तथापि तमाम सावधानियों के बावजूद कुछ-न-कुछ ऐसी कमी रह जाती है जो तथ्यों को स्पष्ट कर सकने में असफल होती है। इन परिस्थितियों में अध्यापक का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। दूरदर्शन के शैक्षिक कार्यक्रमों के वांछित प्रभाव के लिए अध्यापक की भूमिका तो महत्वपूर्ण होती ही है, साथ मे अभिभावकों का भी महत्व होता है (रियू 1974)। अगर अभिभावक शैक्षिक या मनोरंजन कार्यक्रमों के बारे में बच्चों से बातचीत करें तो निश्चय ही कार्यक्रमों का वांछित प्रभाव पड़ेगा। दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों के निर्माण में विशेषज्ञों का एक पूरा समूह लगता है जिसमें पाठ्यक्रम विशेषज्ञ, अध्यापक, कैमरामैन, निर्देशक लगते हैं और कार्यक्रमों का बार-बार मूल्यांकन भी किया जाता है किन्तु, अगर अध्यापक शिक्षण मे रह गयी कमियों का निरीक्षण कर उनकी व्याख्या करे या और अधिक उदाहरण प्रस्तुत करे तो यह शिक्षण को और अधिक प्रभावशाली बना सकता है।

दूरदर्शन पर कार्यक्रमों को विभिन्न माध्यमों से प्रदर्शित किया जाता है किन्तु माध्यमों के चयन के लिए इस बात का पूरा-पूरा ख्याल रखा जाना चाहिए कि किस स्तर के बालकों के लिए कार्यक्रम बनाया जा रहा है जैसा कि

हरलॉक (1970) ने स्पष्ट किया है कि आरंभ में सभी बच्चे दूरदर्शन के सभी कार्यक्रमों को देखना पसन्द करते हैं। पूर्व- प्राथमिक स्तर के बालक ऐसे कार्यक्रमों को देखना पसंद करते हैं जिनमें पशु- पक्षियों के रूप में विभिन्न चरित्रों की प्रस्तुति की जाती है या वे कार्टून अथवा सरलतम ढंग से प्रस्तुत हास्य कार्यक्रमों से आनंदित होते हैं। कक्षा एक या दो के छात्रों को कठपुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत कार्यक्रम अधिक पसंद आते हैं। तीन और चार कक्षा में पढ़ने वाले छात्रों को भी कल्पनात्मक कार्यक्रम ज्यादा पसंद आता है कक्षा 5-6 में पढ़ने वाले छात्रों को भी कल्पनात्मक कार्यक्रमों में आनंद आता है किन्तु विज्ञान अंतरिक्ष और पहेली से भरे कार्यक्रम ज्यादा मनोरंजक लगते हैं। अतः अगर शैक्षिक दूरदर्शन पर कार्यक्रम का निर्धारण करते समय माध्यम के चुनाव में उपरोक्त माध्यमों से विषयवस्तु की प्रस्तुति की जाये तो निश्चय ही कार्यक्रम अधिक रुचिकर और प्रभावशाली बनेंगे।

शैक्षिक दूरदर्शन पर कार्यक्रम के निर्माण के लिए सशक्त माध्यम, सशक्त विषयवस्तु और सशक्त आख्या की आवश्यकता पड़ती है और इन सबके सशक्त होने के लिए जरूरत इस बात की है कि इन सबसे संबंधित विशेषज्ञों का पूर्ण विश्वास प्रसारण माध्यम में होना चाहिए। दूरदर्शन की भूमिका के प्रति उनमें धनात्मक अभिवृति और सहयोगात्मक रुख होना चाहिए अन्यथा कार्यक्रम न वांछित प्रभाव छोड़ पाएगा और न ही धन और समय का सदुपयोग हो पायेगा। इसके लिए आवश्यक है कि कार्यक्रम प्रसारण से संबंधित सभी विशेषज्ञों के समन्वित प्रशिक्षण का आयोजन किया जाए। यारब्रग (1990) ने अपने एक अध्ययन में पाया है कि शिक्षाविदों और दूरदर्शन से संबंधित विशेषज्ञों के प्रत्यक्षीकरण में सार्थक अंतर होता है। यह अंतर कार्यक्रम की सार्थकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगा सकता है।

दूरदर्शन सम्प्रेषण के लिए यदि उचित ढंग से कार्यक्रमों का नियोजन किया जाये और उचित दृश्य- श्रव्य सामग्री का उपयोग किया जाए तो प्रशिक्षित हो सकने वाले मन्द बुद्धि के बालकों को भी इसके द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है (स्टीवर्ट 1989)। दूरदर्शन के माध्यम से संप्रेषित अनुभव प्रत्यक्ष अनुभव के अति निकट होते हैं तथा व्यक्ति पर पूर्ण प्रभाव छोड़ते हैं। कोई व्यक्ति या बालक दूरदर्शन से कितना प्रभावित होता है, यह दो बातों पर निर्भर करता है, प्रथम तो व्यक्ति का व्यक्तित्व या उसकी अपनी मनोवृत्ति तथा कार्यक्रम के विषयगत अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता। बालक के व्यक्तित्व को न तो दूरदर्शन तत्काल परिवर्तित कर सकता है न ही सभी बालकों की मनोवृत्ति के अनुकूल शैक्षिक कार्यक्रमों का प्रसारण किया जा सकता है, किन्तु विषयवस्तु के चयन, संकलन और प्रक्षेपण में सावधानी, सर्वेक्षण पर आधारित शोध कार्यक्रम को और उपयोगी तथा प्रभावशाली बना सकता है।

शैक्षिक दूरदर्शन के कार्यक्रमों में गुणात्मक सुधार के लिए कार्यक्रम का नियोजन, कार्यक्रम को वीडियो टेप पर उतारना तथा उसका प्रसारण तो अति- महत्वपूर्ण है ही किन्तु इन कार्यक्रमों को अध्यापक, अभिभावक, विद्यालय, परिवार एवं शैक्षिक संस्थाओं से भी सहयोग मिलना चाहिए। शैक्षिक दूरदर्शन के प्रति उचित अभिवृत्ति एवं दृष्टिकोण का होना भी आवश्यक है क्योंकि दूरदर्शन बालकों के लिए क्या लाता है, इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि बालक दूरदर्शन के लिए क्या लाता है ? और यह हमारा उत्तरदायित्व है कि दूरदर्शन के पास हम किस प्रकार के बालकों को भेज रहे हैं। अगर टी० वी० का उपयोग केवल "बेबी सिटर" के रूप में किया जाएगा तो निश्चय ही बालक सामाजिक संबंधों से दूर होता जाएगा और हम लापरवाह कहलाएंगे। दूरदर्शन की उपलब्धता की सहजता के कारण यदि बालकों का साक्षात्कार पुस्तकों से नहीं कराया जाता है तो हम लोग मूर्ख हैं। शैक्षिक दूरदर्शन के कार्यक्रमों के पूरक रूप में पाठ्यपुस्तकों को भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए

तथा अन्य शैक्षिक नवाचारों के माध्यम से उनके व्यवहार मे वांछित परिवर्तन लाने का प्रयास करना चाहिए।

यदि शिक्षण मे गुणात्मक प्रसार लाना है, छात्रों में नैतिक, आध्यात्मिक, शैक्षिक और सामाजिक मूल्यों का विकास करना है तो शिक्षण के इस नवाचार का अधिकतम उपयोग किया जाना चाहिए। संभवतः यह नवाचार हमारे समाज मे भावनात्मक एकता और राष्ट्रीय एकता को और अधिक प्रस्फुरित कर देश के सभी व्यक्तियों को राष्ट्रीय धारा में सम्मिलित कर सकेगा।

संदर्भ

पाँचवा अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1986

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, मानव संसाधन विकास मत्रालय, भारत सरकार शिक्षा विभाग, नई दिल्ली 1986

रियू, बी० एम० (1974), टेलीवीजन एंड द फैमिली : द क्वेश्चन ऑफ कन्ट्रोल, **फैमिली कूआरडिनेटर,** 1974, 73-81

हरलाक, ई० बी० (1978), **चाइल्ड डेवेलपमेन्ट,**मैकग्राहिल, कोगाकुश, सिडनी, पृष्ठ 310

स्टीवर्ट, टी० डी० (1989), टेलीविजन एस ए प्यूटोरियल डिवाईस . इम्पैक्ट आन दी मेनटली रिटार्डेड सिटीजन, **डी० ए० आई०,** वाल्यूम 51, नवम्बर 2, अगस्त, 1990

शिक्षण उद्देश्य और कम्प्यूटर संसाधित भाषा शिक्षण

गीता शर्मा

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
नई दिल्ली

कम्प्यूटर के द्वारा भाषा शिक्षण करते समय विद्यार्थी किसी संप्रत्यय की सामान्य जानकारी और बोध ही कर सकता है । शिक्षण के उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति में कम्प्यूटर की सहायता नहीं ली जा सकती ।

आज कम्प्यूटर औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्रों की भांति शैक्षिक क्षेत्र को भी प्रभावित कर रहा है । भारत मे कम्प्यूटर वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री इस दिशा में प्रयत्नशील हैं कि कम्प्यूटर का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में अधिक से अधिक किस प्रकार किया जा सकता है । कम्प्यूटर के द्वारा विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, वाणिज्य जैसे विषयों को पढ़ने और पढ़ाने में अधिक परेशानी नहीं होती क्योंकि इन विषयों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा भी पढ़ा जा सकता है और विदेशों मे किए गए कार्यों को भारत मे भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाता है । लेकिन जब कम्प्यूटर के द्वारा हिंदी भाषा के शिक्षण की बात करते हैं तो निश्चित रूप से कुछ समस्याएं पैदा होती हैं । विदेशों में कम्प्यूटर के द्वारार भाषा शिक्षण- अधिगम की कोई समस्या नही है । वहां कम्प्यूटर सॉफ्ट वेयर तकनीक का विकास इतना हो गया है कि भाषा सीखने वाला अपनी योग्यतानुसार घर पर बैठकर दूसरी भाषा सीख सकता है। कम्प्यूटर द्वारा भाषा शिक्षण की दिशा में हमारे देश के कम्प्यूटर वैज्ञानिक, भाषा वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री निरन्तर प्रयास कर रहे हैं और उन्हें सफलता भी मिल रही है ।

कम्प्यूटर संसाधित भाषा शिक्षण से अभिप्राय है कि अध्यापक के स्थान पर शिक्षण कार्य कम्प्यूटर करे जिससे व्यक्तिगत शिक्षण व्यवस्था का क्षेत्र विस्तृत हो सके क्योंकि शिक्षा में मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर व्यक्तिगत शिक्षण- अधिगम को स्वीकार किया जाने लगा है । प्रत्येक छात्र की सीखने की अपनी गति होती है जिसके आधार पर वह तीव्रता से या मंद गति से सीखता है । सामान्य कक्षा मे यह संभव नहीं हो सकता कि शिक्षक किसी एक या दो छात्रों की वजह से पूरी शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को अवरुद्ध करे । इसी परेशानी को हल करने के लिए शिक्षा में कम्प्यूटर के महत्व को स्वीकार किया गया । शिक्षा में कम्प्यूटर के प्रयोग से यह सभव हो सका है कि छात्र अध्यापक के बिना स्वगति से किसी भी तथ्य की सामान्य जानकारी प्राप्त करके उन तथ्यों का बोध प्राप्त कर सकता है । कम्प्यूटर के द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर ज्ञान और बोध प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी इस योग्य हो सकता है कि सीखे गए तथ्यों का प्रयोग कर सके । भाषा- शिक्षण अधिगम मे भाषा के प्रयोग को स्पष्ट करने से पहले शिक्षण के उद्देश्यों को जानना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि शिक्षण चाहे शिक्षक द्वारा किया जाए या कम्प्यूटर द्वारा दोनों के लिए ही आवश्यक है कि किसी भी क्रिया को करने के पीछे क्या उद्देश्य है यह मालूम होना चाहिए ।

शिक्षण व्यवस्था मे अध्यापक के लिए शिक्षण उद्देश्यों का निर्धारण करना आवश्यक होता है क्योंकि यही

उद्देश्य शिक्षक को दिशा निर्देश देते हैं। शिक्षण उद्देश्यों का संबंध विद्यार्थियों के व्यवहार परिवर्तन से होता है। बी० एस० ब्लूम ने व्यवहार परिवर्तन तीन प्रकार के बताए हैं और इन्हीं तीनों के आधार पर उद्देश्यों को भी तीन वर्गों मे विभाजित किया है-

— ज्ञानात्मक उद्देश्य

— भावात्मक उद्देश्य

— क्रियात्मक उद्देश्य

ज्ञानात्मक उद्देश्य : इसका संबंध किसी भी विषय से संबंधित सूचनाओं और तथ्यों की जानकारी से होता है।

भावात्मक उद्देश्य : इस उद्देश्य का संबंध छात्रों की रुचि, अभिवृत्ति और मूल्यों के विकास से होता है।

क्रियात्मक उद्देश्य : कौशल शिक्षण और व्यावसायिक प्रशिक्षण का संबंध क्रियात्मक उद्देश्य से होता है।

ब्लूम और उसके सहयोगियों ने इन तीनों उद्देश्यों को छः छः वर्गों में विभाजित किया है जो इस प्रकार है :

जानकारी प्राप्त की जाए। इसमें सबसे पहला वर्ग है ज्ञान। इसमें शब्दों, नियमों, सिद्धान्तों और तथ्यों की सामान्य जानकारी है। बोध से अभिप्राय है कि जिन तथ्यों, नियमों शब्दों का ज्ञान हो गया है उन्हीं को अपने शब्दों में व्याख्या करना और अनुवाद करना। प्रयोग के लिए ज्ञान और बोध आवश्यक होता है। छात्र सीखे गए शब्दों, नियमों, सिद्धांतों का प्रयोग करना सीखता है। चौथे वर्ग का सम्बन्ध तथ्यों, नियमों, सिद्धान्तों के विश्लेषण से होता है। विश्लेषण के पश्चात ही नियमों, सिद्धान्तों और तथ्यों का संश्लेषण किया जाता है। संश्लेषण का संबंध छात्र की सर्जनात्मकता से जुड़ा होता है। मूल्यांकन में आलोचनात्मक दृष्टिकोण को विकसित किया जाता है।

सीखने की उपलब्धियाँ और कार्यसूचक क्रियाएँ

ज्ञानात्मक उद्देश्य के सभी वर्गों का संबंध सीखने की विभिन्न उपलब्धियों और कार्यसूचक क्रियाओं से जुड़ा है। सीखने की इन उपलब्धियों और कार्यसूचक क्रियाओं का व्यावहारिक रूप से निरीक्षण और मूल्यांकन किया जा

शिक्षण उद्देश्यों का वर्गीकरण

	ज्ञानात्मक	भावात्मक	क्रियात्मक
6.	मूल्यांकन	चरित्रनिर्माण	आदत या कौशल
5.	संश्लेषण	व्यवस्थापन	स्थायीकरण
4.	विश्लेषण	प्रत्यक्षीकरण	समायोजन
3.	प्रयोग	अनुमूल्यन	नियंत्रण
2.	बोध	अनुक्रिया	कार्य करना
1.	ज्ञान	आग्रहरण	उद्दीपन

शिक्षण के दौरान ज्ञानात्मक पक्षों के वर्गों का प्रयोग अधिक होता है तथा ज्ञानात्मक उद्देश्य ही भावात्मक और क्रियात्मक उद्देश्यों का आधार हैं। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि ज्ञानात्मक उद्देश्य के वर्गों के विषय में अधिक

सकता है। ज्ञान से मूल्यांकन तक के वर्गों का संबंध अधिगम की किन उपलब्धियों से जुड़ा होता है तथा किस वर्ग की उपलब्धि से पूर्व व्यवहार में क्या अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन होगा इसका संकेत हमे कार्यसूचक क्रियाओं के द्वारा ज्ञात

हो सकता है। सीखने की उपलब्धि और कार्यसूचक क्रियाओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

	वर्ग	सीखने की उपलब्धि	कार्यसूचक क्रियाएं
6.	मूल्यांकन	बाह्य एवं आंतरिक निर्णय लेना	निर्णय लेना, आलोचना करना, दूर करना, बचाव करना, पहचानना।
5.	संश्लेषण	नवीन संप्रेषण करना, नई योजना प्रस्तावित करना, अमूर्त संबंधों का अवलोकन	तर्क करना, व्यवस्थित करना, चयन करना, निष्कर्ष देना, वाद- विवाद करना, पुनः कथन देना, संक्षिप्त करना, सामान्यीकरण करना।
4.	विश्लेषण	तत्वों का विश्लेषण करना, संबंध स्थापित करना, सिद्धांतों का विश्लेषण करना	निष्कर्ष निकालना, विभाजन करना, तुलना करना, अलग करना, आलोचना करना, पुष्टि करना
3.	प्रयोग	सामान्यीकरण करना, निदान करना, प्रयोग करना।	पूर्व कथन देना, जांच करना, बनाना, प्रयोग करना, प्रदर्शन करना, उल्लेख करना।
2.	बोध	अनुवाद करना, व्याख्यान देना, उल्लेख करना।	व्याख्या करना, उदाहरण देना, प्रस्तुत करना, संकेत करना, वर्गीकरण करना, चयन करना, अनुवाद, प्रतिपादन, अर्थापन करना।
1	ज्ञान	विशिष्ट वस्तुओं, साधनों और सार्वभौमिक वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करना।	प्रत्यास्मरण, पहचानना, परिभाषा देना, कथन देना, मापन करना, लिखना, सूची देना, चयन करना।

ज्ञानात्मक उद्देश्य के वर्गों, सीखने की उपलब्धि और कार्यसूचक क्रियाओं के आधार पर अब हम यदि कम्प्यूटर संसाधित भाषा शिक्षण की बात करें तो समझा जा सकता है कि किम्प्यूटर के द्वारा भाषा शिक्षण किस सीमा तक संभव हो सकता है। कम्प्यूटर की अपनी एक सीमा होती है। यह वही कार्य कर सकता है जो उसकी शिक्षण सामग्री में निर्धारित होता है। शिक्षण सामग्री से इतर विद्यार्थी की अगर कोई समस्या होती है तो उसका समाधान इसके पास नहीं होता। शिक्षण सामग्री की प्रभावशीलता उसके बनाने वाले की योग्यता पर निर्भर करती है।

भारत में आज केन्द्रीय विद्यालय और नवोदय विद्यालयों के सामने माध्यम भाषा की समस्या है। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक है कि हिंदी का विकास माध्यम भाषा के रूप में पहले की अपेक्षा अब तीव्र गति से होगा। संपर्क भाषा और माध्यम भाषा के रूप में जब हिंदी का विकास होगा तो निश्चित है कि विभिन्न भाषा भाषी अपनी भाषा के अनुसार हिंदी का प्रयोग करेंगे और यह आवश्यक नहीं कि ये प्रयोग हिंदी की प्रकृति के अनुसार सही हों। सीखने की उपलब्धि और कार्यसूचक क्रियाओं के आधार पर ज्ञान और बोध वर्ग के उद्देश्यों को तो आसानी से प्राप्त किया जा सकता है लेकिन उच्च वर्ग के उद्देश्यों की प्राप्ति असंभव नहीं तो अभी कठिन अवश्य है क्योंकि उच्च वर्गों का संबंध सर्जनात्मकता से जुड़ा होता है। अपनी बात

को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दिल, जी, मन से संबंधित एक नमूने का पाठ प्रस्तुत है। इस पाठ मे कम्प्यूटर के द्वारा मुहावरे पढ़ाने का प्रयास किया गया है। शिक्षण के बाद मूल्यांकन के द्वारा यह भी जानने का प्रयास किया गया है कि छात्र इन मुहावरों के अर्थ से परिचित हुआ है या नहीं।

नमूने का पाठ

निर्देश : निम्नलिखित वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़िए :

1 आज बच्चों ने इतनी मिठाई खाई कि जी भर गया।
2 उसकी यह आदत देखकर मेरी जी जल गया।
3. जीते जी तो शायद ही तुम उसे पाओ।
4 अपने दोस्त की गरीबी देखकर मेरा दिल भर आया।
5 मुझे घर की याद आ रही है, अब मेरा दिल उचट गया है।
6 जी जान से मैंने पढ़ाई की लेकिन सफलता फिर भी नहीं मिली।
7 इस साड़ी को देखकर मेरा मन ललचा गया।
8 खरीदना तो बहुत कुछ चाहती थी लेकिन पैसे कम थे, इसलिए मन मारना पड़ा।
9 मन बहलाने के लिए सोचा कि सिनेमा देखूं।

निर्देश : उपर्युक्त वाक्यों में आए हुए इन अंशों को ध्यान से देखिए :

1. जी भर गया।
2 जी जल गया।
3 जीते जी।
4 दिल भर आया।
5. दिल उचट गया।
6. जी जान से।
7. मन ललचा गया।
8. मन मारना पड़ा।
9. मन बहलाने के लिए।

निर्देश : निम्नलिखित मुहावरों को उनके अर्थ के साथ पढ़िए·

1. जी भरना : संतुष्ट होना।
2. जी जलना = क्रोध आना।
3 जीते जी = प्राण रहते, जीवित रहते
4 दिल भर आना = करुणा से द्रवित होना।
5. दिल उचट जाना = चित्त एकाग्र न होना।
6. जी जान से = चित्त एकाग्र करके।
7 मन ललचाना = लालच आना, तरसना।
8 मन मारना = इच्छा को मन में दबा लेना।
9. मन बहलाना = मनोरजन करना।

निर्देश : निम्नलिखित वाक्यों में सही मुहावरों के अंक लिखिए। वाक्यों के स्पष्ट न होने पर पहले वाले फ्रेम को देखिए —

		सही अंक
1.	. . . . . पढ़ाई करने के बाद भी अधिक सफलता नही मिली।	6
2.	खरीदना तो बहुत कुछ चाहती थी, पैसे न होने की वजह से . . . . . पड़ा।	8
3	उसकी बेकार की बाते सुनकर मेरा . . . . है।	2
4.	. . . . मैं तुम्हारा मुंह नही देखूंगा।	3
5	कई दिन से घर में थी। सोचा थोड़ी देर बाजार घूमने से ही . . . . जाएगा।	9
6	रोज आलू खाते- खाते . . . . . गया।	1
7	उसका रोना देखकर मेरी भी . . . . आया।	4
8.	तुम्हारी साड़ी बहुत सुंदर है। मेरा तो इस पर . . . . रहा है।	7
9.	बहुत दिन से एक ही जगह रहते रहते मेरा . . . . गया।	5

निर्देश : आपने जो मुहावरे पढ़े उनमे निम्नलिखित शब्दों में से कौन से शब्दों का प्रयोग बार- बार हुआ है। इसके

लिए अंक (1,2,3) दीजिए। गलत उत्तर आने पर मुहावरों को एक बार फिर देखिए-

जाना, चित्त, मन, आना, भरना, दिल, जलना,जी।

निर्देश : निम्नलिखित मुहावरों में दिल, जी और मन शब्दों का प्रयोग कीजिए-

1. जी भरना ...
2. जी भर आना ...
3. दिल उचट जाना ...
4. मन ललचाना ...
5. मन मारना ...
6. मन बहलाना ...

निर्देश : अभी जो आपने मुहावरे देखे उनमें तीन मुहावरों का वर्णन नहीं है। वे मुहावरे कौन से हैं उनकी संख्या दीजिए-

स्पष्टीकरण : "जीते जी" मुहावरे में "हम" "दिल" और "मन" शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। "जी जान से" "जी जलना" मुहावरे में "मन" का प्रयोग नहीं होता।

परीक्षण

निर्देश : नीचे मुहावरे और उनके अर्थ दिए गए हैं। मुहावरे के सामने उसके सही अर्थ का अंक लिखिए-

मुहावरा	सही अंक	अर्थ
1 दिल भर आया	. .	1. संतुष्ट होना
2 मन ललचाना	. .	2. क्रोध आना
3. जीते जी	. .	3 जीवित रहते।
4. मन बहलाना	. . . .	4 करुणा से द्रवित होना।
5. जी भरना	. . . .	5 चित्त एकाग्र न होना।
6. जी जान से	. .	6. लालच होना।
7. मन मारना	. . . .	7 चित्त एकाग्र करके।
8 जी जलना	. . . .	8. दुखी होना।
9. दिल उचट जाना	. . .	9. मनोरंजन करना।

निर्देश: निम्नलिखित मुहावरों के प्रयोग सही हैं या गलत। सही/गलत के बटन दबाइए-

1. बच्चों को पढ़ते देखकर माँ का दिल जल रहा है।
2. जी जान से मैं तुम्हे चाहता हूँ। सही
3. इतना घूमने के बाद भी तुम्हारा जी नही भरा। सही
4. तुम्हारा पैसा देखकर मेरा दिल भर गया। गलत
5. दिल उचट गया अब काम मे मन लग रहा है। गलत
6. मन मारकर उसे जाना पड़ा। सही
7. किताब के पृष्ठ बहुत खराब है, इसलिए मेरा मन ललचा रहा है। गलत
8. छुट्टियों मे मन बहलाने के लिए पहाड़ों पर घूमने जाएंगे। सही
9. जीते ज़ी वह तुमसे बात करेगा। गलत

उपर्युक्त पाठ में मुहावरों का शिक्षण और परीक्षण दोनों ही हैं तथा ज्ञान और बोध दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हो रही है। हिंदी भाषी विभिन्न परिस्थितियों में इनका प्रयोग कर सकता है लेकिन यदि अन्य भाषी विभिन्न परिस्थितियों मे इसका प्रयोग करता है तो यह आवश्यक नहीं कि प्रयोग सही हो और यदि गलत प्रयोग है तो कम्प्यूटर के द्वारा यह पता नहीं चल सकता कि प्रयोग संरचना स्तर पर गलत है या व्याकरण स्तर पर या भाव स्तर पर। कहने का अभिप्राय यह है कि कम्प्यूटर के द्वारा भाषा शिक्षण करते समय विद्यार्थी किसी संप्रत्यय की सामान्य जानकारी और बोध ही कर सकता है। शिक्षण के उच्च्य उद्देश्यों की प्राप्ति में कम्प्यूटर की सहायता नहीं ली जा सकती। शिक्षण व्यवस्था में एकरूपता न होने के कारण शिक्षा में इसका प्रयोग काफी सीमित होता है। अन्त में इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत शिक्षण में ज्ञान और बोध स्तर के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कम्प्यूटर की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पुस्तक समीक्षा

परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम

पूरन चन्द्र जोशी

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृष्ठ 224
मूल्य 75 रुपये

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समानता व बंधुत्व पर आधारित धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी और लोकतांत्रिक गणराज्य की नींव हमारे देश के कर्णधारों ने रखी थी-। लेकिन आजादी के चार दशक बाद भी भारत अपनी आतंरिक समस्याओं को नहीं सुलझा पाया है । राष्ट्रीय एकता की समस्या अभी भी बनी हुई है । भाषायी, साम्प्रदायिक और जातीय तथा क्षेत्रीय अलगाववाद ने हमेशा राष्ट्रीय एकता में बाधा डाली है। कृषक संबंधों में असमानता व शोषण, युवा बेरोजगारी व तनाव, उपभोक्तावादी संस्कृति मे पैदा हुआ नवधनाढ्य वर्ग , नैतिकता व मूल्यों का पतन एवं बड़े- बड़े आर्थिक घोटालों के कारण भारत का राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हुआ है।

इन सब समस्याओं का विश्लेषण पुस्तक के चार भागों में किया गया है। साथ ही उनसे उभरने के उपागम भी सुझाये गये हैं। ज्यादा जोर इस बात पर दिया गया है कि भारतीय समाज की राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था उसके सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ी हुई है। मार्क्सवादी व प्रकार्यवादी उपागम के विपरीत विकास व परिवर्तन को सांस्कृतिक दृष्टिकोण के संदर्भ में समझाया गया है। पुस्तक का पहला भाग इसकी वैचारिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार करता है।

भारत के राष्ट्रीय विकास में भाषा की समस्या सबसे बड़ी बाधा है। ब्रिटिश शिक्षा नीति के अनुकरण के कारण आजादी के बाद भारत मे एक दोहरे समाज का निर्माण हुआ। इसमें एक ओर वह छोटा अभिजन वर्ग है जो पश्चिम की संस्कृति का अंधानुकरण कर रहा है। दूसरी ओर एक बड़ा जन- समूह है जो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने के कारण शिक्षा व नौकरी के क्षेत्र मे अभिजन समूह से पिछड़ा हुआ है। इसलिए भाषायी विवाद समय- समय पर उठते रहते है। इस नवधनाढ्य वर्ग की जीवन- शैली मे व्यक्तिवाद, स्वार्थपरता, उपभोगवादिता, धनलिप्सा व प्रतिस्पर्धा भरी हुई है। जनसमूह भी इसकी नकल करके उपभोगवादी संस्कृति से जुड़ रहा है। ऐसी स्थिति में भारत में राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं हो पा रहा है। इससे भारत का विकास अवरुद्ध हुआ है। लोग गांधीवादी मूल्यों को भूल गये है।

इस स्थिति से उबरने के लिए गाँधी जी का विचार दर्शन अपनाना होगा जिसमे आर्थिक विकास को सांस्कृतिक विकास से जोड़ा गया है। यह दर्शन बहुजन हिताय- बहुजन सुखाय, सहयोग व भागीदारी पर आधारित है। इसे अपनाने के लिए सांस्कृतिक व बौद्धिक अभिजन वर्ग को पहल करनी होगी तथा जन- साधारण में अपनी जड़ जमानी होगी।

पुस्तक के दूसरे भाग में साम्प्रदायिकता की समस्या व धर्मनिरपेक्ष समाज की चिन्ता पर विचार किया है। भारत में साम्प्रदायिकता का विकास औपनिवेशिक नीति के आर्थिक विकास का परिणाम है। सन् 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद अंग्रेजों ने मुसलमानों के प्रति दमन का रुख अपनाया। इससे उत्पादन के साधन, व्यापारिक व वित्तीय निगम हिन्दू समुदाय के लोगों के हाथ में आ गये। मुसलमान पूंजी की भागीदारी से अलग- थलग पड़ गये।

यह आर्थिक असमानता हिन्दु व मुसलमानों के आर्थिक हितों के टकराव का कारण बनी। यही प्रवृत्ति रह-रह कर आज भी भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न समुदायों के बीच साम्प्रदायिक, जातीय व क्षेत्रीय तनाव का कारण बनी हुई है।

नेहरू जी इस स्थिति से पूर्णतः परिचित थे। वे जानते थे कि धर्मनिरपेक्षवाद आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय तीनों परस्पर संबंधित हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना करना गलत है। अतः उन्होंने भारत को सच्चा धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक गणतंत्र बनाने के लिए पिछड़ापन, शोषण तथा असमानता दूर करने की नीति अपनायी।

पुस्तक के तीसरे भाग में मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य में ग्रामीण जीवन का चित्रण, उसके बदलते परिप्रेक्ष्य मे विचार किया गया है। भारत की तीन- चौथाई जनता गाँवों में रहती है। यह प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्य से जुड़ी हुई है। लेकिन आजादी के चार दशक बाद भी न तो कृषि का समुचित विकास हुआ है और न ही कृषक संबंधों में स्थित असमानता, शोषण, बंधुआ मजदूरी व्यवस्था एवं कर्ज की समस्या से छुटकारा मिला है। कृषक संरचना में एक नया वर्ग पैदा हो गया है जो उत्पादन व भूमि के अधिकांश भाग का मालिक बना हुआ है। यह सामंती व अर्धसामंती भूमि- संबंधों के समरूप ही है। भारत के ग्रामों का विकास तब तक संभव नहीं जब तक कि पुरानी सामाजिक संरचना जिसमें ब्राहमण- वाद, पुरोहितवाद, जाति प्रथा, ग्रामवाद व क्षेत्रवाद को नयी सांस्कृतिक क्रांति से न जोड़ा जाये। यह नयी सांस्कृतिक क्रान्ति मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों में देखने को मिलती है जिसमें सामंती कृषक संरचना पर प्रहार किया गया है। भारतीय साहित्य के इतिहास मे प्रेमचंद की वही भूमिका है जो भारतीय राजनीति के इतिहास मे गाधी जी की रही। दोनों ने समाज को एक नया मोड़ दिया।

अंतिम भाग मे युवा- तनाव, आंचलिक संस्कृति, कृषि- संबंधों मे सांस्कृतिक चेतना, वर्ण व जाति का वर्गीय आधार, परजीवी सस्कृति व बिचौलिया सत्ता और भारतीय मार्क्सवाद की सांस्कृतिक भूमिका आदि पर बदलते सामाजिक संबंधों व सांस्कृति परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है।

जातीय हिंसा व युवा तनाव वर्तमान भारत की अन्य ज्वलंत समस्याएं हैं। जातीय संघर्ष दूसरे रूप में वर्ग संघर्ष का ही रूप है, क्योंकि यह आर्थिक व सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न होता है। भूमि व सम्पत्ति के मालिक विशेष जाति के व्यक्ति ही है। कुछ जातियाँ इससे वंचित हैं। अतः यह भूमि संघर्ष, जाति- संघर्ष का रूप ले लेता है। दूसरे, उच्च जाति के व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्तियों मे आयी मानवीय व सामाजिक चेतना को अभी भी पुराने सामंतवादी नज़रिये से ही देखते हैं।

भारत में युवा तनाव का सांस्कृतिक पहलू है, उपभोगवादी संस्कृति के मूल्यों को अपनाना। युवा जन आज अच्छे अवसर, उच्च नौकरी व बिना श्रम किये धनोपार्जन की इच्छा रखता है। लेकिन अवसरों की कमी के कारण सभी युवा उच्च पद प्राप्त नही कर पाते। अधिक राजनैतिक व सामाजिक सम्पर्क वाले युवा जब अवसर का लाभ उठाते हैं तो जन युवा क्रुद्ध हो जाता है। यह क्रोध, हिसा, आंदोलन व अपराधों के रूप में सामने आता है।

आर्थिक विकास के क्षेत्रीय असंतुलन के कारण पर्वतीय युवा नौकरी की तलाश में मैदानी इलाकों में आकर अपने परिवार का भरण- पोषण करते हैं। इससे पहाड़ी व मैदानी संस्कृति का टकराव होता है। पर्वतीय अभिजन वर्ग भी अपनी संस्कृति को भूलता जा रहा है। पर्वतीय आर्थिक विकास के साथ- साथ यह भी जरूरी है कि वहाँ की संस्कृति व कला को भी जीवंत बनाये रखा जाये। नहीं तो आंचलिक संस्कृति टूटती जायेगी और इससे आंदोलन उपजेंगे।

प्रोफेसर जोशी द्वारा लिखित ये निबन्ध उनके पिछले चार दशकों के अध्ययन, अध्यापन व शोध के अनुभव का प्रमाण हैं। यद्यपि पुस्तक का प्रत्येक भाग एक अलग समस्या पर प्रकाश डालता है लेकिन समग्र रूप में प्रत्येक भाग एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। एक ओर तो यह पुस्तक समाज वैज्ञानिकों को वैचारिक व बौद्धिक स्तर पर जूझने के लिए प्रेरित करती है। दूसरी ओर भारतीय समाज के विपथगामी विकास से चिंतित राजनैतिज्ञों, प्रशासकों, नीति- निर्माताओं, समाज- सुधारकों व सहृदय आम पाठकों के लिए भी व्यावहारिक स्तर पर जूझने की प्रेरणास्रोत है।

नरेश सिंह पुंडीर
जूनियर प्रोजेक्ट फैलो
समाज विज्ञान व मानविकी शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरबिंद मार्ग, नई दिल्ली 110016

अध्यापकों की सहायतार्थ
तथा उन्हें स्वावलम्बी
बनाने के लिए
पढ़िए

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा प्रकाशित

प्राइमरी शिक्षक

(एक त्रैमासिक प्रकाशन)

प्राइमरी शिक्षक में गणमान्य शिक्षा-शास्त्रियों तथा अध्यापकों द्वारा निम्नलिखित विषयों पर लिखे गए शोध-प्रपत्र और लेख प्रकाशित किए जाते हैं:

*नवीन प्रयोग तथा नवाचार;

*स्कूली शिक्षा की गतिविधियाँ, विशेष रुप से प्राथमिक स्तर पर;

*प्राथमिक शिक्षा पर होने वाला कार्य;

शिक्षकों के लिए अध्यापन-शिक्षण सामग्री। उदाहरणार्थ-चित्र, रेखाचित्र आदि, जिनको कक्षा में प्रत्यक्ष रुप से प्रयोग किया जा सके।

1833, according to Porter, they at least doubled.[20] In Scotland, the rental of land, which in 1795 had amounted to £2,000,000, had risen in 1815 to £5,278,685.[21] A farm in Essex, which before 1793 had been rented at 10s. an acre, was let in 1812 at 50s., though, six years after, this had fallen again to 35s. In Berks and Wilts, farms which in 1790 were let at 14s., were let in 1810 at 70s., and in 1820 at 50s. Much of this rise, doubtless, was due to money invested in improvements—the first Lord Leicester is said to have expended £400,000 on his property[22]—but it was far more largely the effect of the enclosure system, of the consolidation of farms, and of the high price of corn during the French war. Whatever may have been its causes, however, it represented a great social revolution, a change in the balance of political power and in the relative position of classes. The farmers shared in the prosperity of the landlords, for many of them held their farms under beneficial leases, and made large profits by them. In consequence, their character completely changed, they ceased to work and live with their labourers, and became a distinct class. The high prices of the war time thoroughly demoralised them, for their wealth then increased so fast, that they were at a loss what to do with it. Cobbett has described the change in their habits, the new food and furniture, the luxury and drinking, which were the consequences of more money coming into their hands than they knew how to spend.[23] Meanwhile, the effect of all these agrarian changes upon the condition of the labourer was an exactly opposite and most disastrous one. He felt all the burden of high prices, while his wages were steadily falling, and he had lost his common-rights. It is from this period, viz., the beginning of the present century, that the alienation between farmer and labourer may be dated.[24]

Exactly analogous phenomena appeared in the manufacturing world. The new class of great capitalist employers made enormous fortunes, they took little or no part personally in the work of their factories, their hundreds of workmen were individually unknown to them, and as a consequence, the old relations between masters and men disappeared, and a 'cash nexus' was substituted for the human tie. The workmen on their side resorted

to combination, and Trades-Unions began a fight which looked as if it were between mortal enemies rather than joint producers.

The misery which came upon large sections of the working people at this epoch was often, though not always, due to a fall in wages, for, as I said above, in some industries they rose. But they suffered likewise from the conditions of labour under the factory system, from the rise of prices, especially from the high price of bread before the repeal of the corn-laws, and from those sudden fluctuations of trade, which, ever since production has been on a large scale, have exposed them to recurrent periods of bitter distress. The effects of the Industrial Revolution prove that free competition may produce wealth without producing well-being. We all know the horrors that ensued in England before it was restrained by legislation and combination.

IX

THE GROWTH OF PAUPERISM

MALTHUS tells us that his book was suggested by Godwin's *Inquiry*, but it was really prompted by the rapid growth of pauperism which Malthus saw around him, and the book proved the main influence which determined the reform of the English Poor Laws The problem of pauperism came upon men in its most terrible form between 1795 and 1834 The following statistics will illustrate its growth.

Year	Population	Poor-rate	Per head of Population
1760	7,000,000	£1,250,000	or 3s 7d
1784	8,000,000	2,000,000	or 5s 0d
1803	9,216,000	4,077,000	or 8s 11d
1818	11,876,000	7,870,000	or 13s 3d

This was the highest rate ever reached But really to understand the nature of the problem we must examine the previous history of pauperism, its causes in different periods, and the main influences which determined its increase

Prejudices have arisen against Political Economy because it seemed to tell men to follow their self-interest and to repress their instincts of benevolence Individual self-interest makes no provision for the poor, and to do so other motives and ideas must take its place, hence the idea that Political Economy taught that no such provision should be made Some of the old economists did actually say that people should be allowed to die in the street Yet Malthus, with all his hatred of the Poor Law, thought that 'the evil was now so deeply seated, and relief given by the Poor Laws so widely extended, that no man of humanity could venture to propose their immediate abolition '[1] The assumed cruelty of political economy arises from a mistaken conception of its province, and from that confusion of ideas to which

I have before alluded, which turned economic laws into practical precepts, and refused to allow for the action of other motives by their side. What we now see to be required is not the repression of the instincts of benevolence, but their organisation To make benevolence scientific is the great problem of the present age Men formerly thought that the simple direct action of the benevolent instincts by means of self-denying gifts was enough to remedy the misery they deplored, now we see that not only thought but historical study is also necessary. Both to understand the nature of pauperism and to discover its effectual remedies, we must investigate its earlier history. But in doing this we should take to heart two warnings first, not to interpret mediæval statutes by modern ideas, and secondly, not to assume that the causes of pauperism have always been the same.

The history of the Poor Laws divides itself into three epochs, from 1349 to 1601, from 1601 to 1782, and from 1782 to 1834. Now, what was the nature of pauperism in mediæval society, and what were then the means of relieving it? Certain characteristics are permanent in all society, and thus in mediæval life as elsewhere there was a class of impotent poor, who were neither able to support themselves nor had relatives to support them. This was the only form of pauperism in the early beginnings of mediæval society, and it was provided for as follows. The community was then broken up into groups—the manor, the guild, the family, the Church with its hospitals, and each group was responsible for the maintenance of all its members, by these means all classes of poor were relieved. In the towns the craft and religious guilds provided for their own members; large estates in land were given to the guilds, which 'down to the Reformation formed an organised administration of relief' ('the religious guilds were organised for the relief of distress as well as for conjoint and mutual prayer';)[2]—while outside the guilds there were the churches, the hospitals, and the monasteries The 'settled poor' in towns were relieved by the guilds, in the country by the lords of the manor and the beneficed clergy 'Every manor had its constitution,'[3] says Professor Stubbs, and, referring to manumission, he adds, 'the native lost the privilege of mainte-

nance which he could claim of his lord.'[4] Among what were called 'the vagrant poor' there were the professional beggars, who were scarcely then considered what we should now call paupers, and 'the valiant labourers' wandering only in search of work. Who then were the paupers? In the towns there were the craftsmen, who could not procure admission into a guild. In the country there was the small class of landless labourers nominally free. It is a great law of social development that the movement from slavery to freedom is also a movement from security to insecurity of maintenance. There is a close connection between the growth of freedom and the growth of pauperism; it is scarcely too much to say that the latter is the price we pay for the former. The first Statute that is in any sense a Poor Law was enacted at a time when the emancipation of the serfs was proceeding rapidly. This is the Statute of Labourers, made in 1349; it has nothing to do with the maintenance of the poor, its object was to repress their vagrancy.[5]

This Statute has been variously interpreted. According to some,[6] it was simply an attempt of the landowners to force the labourers to take the old wages of the times before the Plague. Others object, with Brentano, to this interpretation, and believe that it was not an instance of class legislation, but merely expressed the mediæval idea that prices should be determined by what was thought reasonable and not by competition, for this same Statute regulates the prices of provisions and almost everything which was sold at the time. Probably Brentano is in the main right. It is true that the landowners did legislate with the knowledge that the Statute would be to their own advantage, but the law is none the less in harmony with all the ideas of the age. The Statute affected the labourer in two directions: it fixed his wages, and it prevented him from migrating. It was followed by the Statute of 1388, which is sometimes called the beginning of the English Poor Law. We here find the first distinction between the impotent and the able-bodied poor. This law decreed that if their neighbours would not provide for the poor, they were to seek maintenance elsewhere in the hundred; no one is considered responsible for them, it is assumed that the people of the

parish will support them Here too we catch the first glimpse of a law of settlement in the provision that no labourer or pauper shall wander out of his hundred unless he carry a letter-patent with him

No exact date can be assigned to the growth of able-bodied pauperism. It was the result of gradual social changes, and of the inability to understand them Mediæval legislators could not grasp the necessity for the mobility of labour, nor could they see that compulsory provision for the poor was essential, though the Statute of 1388 shows that the bond between lord and dependent was snapped, and security for their maintenance in this way already at an end The Church and private charity were deemed sufficient, though it is true that laws were passed to prevent the alienation of funds destined for the poor[7] And with regard to the mobility of labour, we must remember that the vagrancy of the times did not imply the distress of the labourers, but their prosperity The scarcity of labour allowed of high wages, and the vagrant labourer of the time seems never to have been satisfied, but always wandering in search of still higher wages The stability of mediæval society depended on the fixity of all its parts, as that of modern society is founded on their mobility The Statutes afford evidence that high wages and the destruction of old ties did in fact lead to disorder, robbery and violence, and by and by we find the condition of the labourer reversed, in the next period he is a vagrant, because he cannot find work

In the sixteenth century pauperism was becoming a really serious matter If we ask, What were its causes then, and what the remedies proposed, we shall find that at the beginning of the century a great agrarian revolution was going on, during which pauperism largely increased Farms were consolidated, and arable converted into pasture,[8] in consequence, where two hundred men had lived there were now only two or three herdsmen. There was no employment for the dispossessed farmers, who became simple vagabonds, 'valiant beggars,' until later they were absorbed into the towns by the increase of trade A main cause of the agrarian changes was the dissolution of

monasteries, though it was one that acted only indirectly, by the monastic properties passing into the hands of new men who did not hesitate to evict without scruple. About the same time the prices of provisions rose through the influx of the precious metals and the debasement of the coinage. And while the prices of corn in 1541-82 rose 240 per cent. as compared with the past one hundred and forty years, wages rose only 160 per cent.[9] In this fact we discover a second great cause of the pauperism of the time, just as at the end of the eighteenth century we find wages the last to rise, and the labouring man the greatest sufferer from increased prices. As regards the growth of pauperism in towns, the main cause may be found in the confiscation of the estates of the guilds by the Protector Somerset.[10] These guilds had been practically friendly societies, and depended for their funds upon their landed properties.

And how did statesmen then deal with these phenomena? The legislation of the age about 'vagabonds' is written in blood. The only remedy suggested was to punish the vagrant by cruel tortures—by whipping and branding. Even death was resorted to after a second or third offence, and though these penalties proved very ineffectual, the system was not abandoned till the law of 43 Elizabeth recognised that punishment had failed as a remedy. The other class of paupers, the impotent poor, had been directed by a Statute of Richard II to beg within a certain limited area; in the reigns of Edward VI and Elizabeth the necessity of compulsory provision for this class of poor slowly dawned upon men's minds. At first the churchwardens were ordered to summon meetings for the purpose of collecting alms, and overseers were appointed who 'shall gently ask and demand' of every man and woman what they of their charity will give weekly towards the relief of the poor. Mayors, head-officers, and churchwardens were to collect money in boxes 'every Sunday and holyday.' The parsons, vicar and curate, were to reason with those who would not give, and if they were not successful, the obstinate person was to be sent to the bishop, who was to 'induce and persuade him', or by the provisions of a later law, he was to be assessed at Quarter Sessions (1562). Such was the first recogni-

tion of the principle of compulsory support, of the fact that there are men in the community whom no one will relieve. There appears upon the scene for the first time the isolated individual, a figure unknown to mediæval society, but who constitutes so striking a phenomenon in the modern world. And hence springs up a new relation between the State and the individual. Since the latter is no longer a member of a compact group, the State itself has to enter into direct connection with him. Thus, by the growth at once of freedom and of poverty, the whole status of the working classes had been changed, and the problem of modern legislation came to be this: to discover how we can have a working class of free men, who shall yet find it easy to obtain sustenance; in other words, how to combine political and material freedom.

All the principles of our modern Poor Laws are found in the next Statute we have to notice, the great law of the 43rd year of Elizabeth, which drew the sharp distinction, ever since preserved, between the able-bodied and the impotent poor. The latter were to be relieved by a compulsory rate collected by the overseers, the former were to be set to work upon materials provided out of the rates, children and orphans were to be apprenticed. From this date 1601, there were no fundamental changes in the law till the end of the eighteenth century. The law of settlement, however, which sprang directly out of the Act of Elizabeth, was added; it was the first attempt to prevent the migration of labourers by other means than punishment. It began with the Statute of 1662, which allowed a pauper to obtain relief only from that parish where he had his settlement, and defined settlement as forty days' residence without interruption, but after this Statute there were constant changes in the law, leading to endless complications, and more litigation took place on this question of settlement than on any other point of the Poor Law. It was not till 1795 that the hardship of former enactments was mitigated by an Act under which no new settler could be removed until he became actually chargeable to the parish.[11]

Two other modifications of the Act of Elizabeth require to be

noticed. In 1691 the administration of relief was partially taken out of the hands of the overseers and given to the Justices of the Peace, the alleged reason being that the overseers had abused their power. Henceforth they were not allowed to relieve except by order of a Justice of the Peace, and this provision was construed into a power conferred upon the Justices to give relief independently of any application on the part of the overseers, and led, in fact, to Justices ordering relief at their own discretion. The other important change in the Poor Law was the introduction of the workhouse test in 1722. It is clear that pauperism had grown since the reign of Charles II. There are many pamphlets of the period full of suggestions as to a remedy, but the only successful idea was this of the workhouse test. Parishes were now empowered to unite and build a workhouse, and refuse relief to all who would not enter it, but the clauses for building workhouses remained inoperative, as very few parishes would adopt them.

The question remains to be asked: Why was pauperism still slowly increasing in the course of the seventeenth and eighteenth centuries in spite of a rise in wages, and, during the first half of the eighteenth century, a low price of corn? Enclosures and the consolidation of farms, though as yet these had been on a comparatively small scale, were partly responsible for it, as they were in an earlier century. Already, in 1727, it was said that some owners were much too eager to evict farmers and cottagers, and were punished by an increase of rates consequent on the evicted tenants sinking into pauperism.[12] By Eden's time the practice of eviction had become general, and the connection between eviction and pauperism is an indisputable fact, though it has been overlooked by most writers. Eden's evidence again shows that pauperism was greatest where enclosures had taken place. At Winslow, for instance, enclosed in 1744 and 1766, 'the rise of the rates was chiefly ascribed to the enclosure of the common fields, which, it was said, had lessened the number of farms, and from the conversion of arable into pasture had much reduced the demand for labourers.' Again, at Kilworth-Beauchamp in Leicestershire, 'the fields being now in pasturage, the farmers had

little occasion for labourers, and the poor being thereby thrown out of employment had, of course, to be supported by the parish.'[13] Here too the evil was aggravated by the fate of the ejected farmers, who sank into the condition of labourers, and swelled the numbers of the unemployed 'Living in a state of servile dependence on the large farmers, and having no prospect to which their hopes could reasonably look forward, their industry was checked, economy was deprived of its greatest stimulation, and their only thought was to enjoy the present moment' Again, at Blandford, where the same consolidation of farms had been going on, Eden remarks that 'its effects, it is said, oblige small industrious farmers to turn labourers or servants, who, seeing no opening towards advancement, become regardless of futurity, spend their little wages as they receive them without reserving a pension for their old age, and, if incapacitated from working by a sickness which lasts a very short time, inevitably fall upon the parish'[14]

Besides the enclosure of the common-fields, and the consolidation of farms, the enclosure of the commons and wastes likewise contributed to the growth of pauperism Arthur Young and Eden thought that commons were a cause of idleness, the labourers wasted their time in gathering sticks or grubbing furze, their pigs and cows involved perpetual disputes with their neighbours, and were a constant temptation to trespass[15] No doubt this was true where the common was large enough to support the poor without other occupation But on the other hand, where the labourer was regularly employed, a small common was a great extra resource to him. Arthur Young himself mentions a case at Snettisham in Norfolk, where, when the waste was enclosed, the common rights had been preserved, and as a result of this, combined with the increased labour due to the enclosure, the poor-rates fell from 1s 6d to 1s or 9d, while population grew from five to six hundred He goes on to say that enclosures had generally been carried out with an utter disregard for the rights of the poor According to Thornton, the formation of parks contributed to the general result, but I know of no evidence on this head

A further cause of pauperism, when we come to the end of the century, was the great rise in prices as compared with that in wages In 1782 the price of corn was 53s 9¼d, which was considerably higher than the average of the preceding fifty years, but in 1795 it had risen to 81s 6d., and in the next year it was even more The corn average from 1795 to 1805 was 81s 2½d, and from 1805 to 1815 97s 6d. In 1800 and 1801 it reached the maximum of 127s. and 128s 6d, which brought us nearer to a famine than we had been since the fourteenth century Many other articles had risen too. The taxes necessitated by the debt contracted during the American war raised the prices of soap, leather, candles, etc, by one-fifth, butter and cheese rose 1½d a pound, meat 1d And meanwhile, 'what advance during the last ten or twelve years,' asks a writer in 1788, 'has been made in the wages of labourers? Very little indeed, in their daily labour nothing at all, either in husbandry or manufactures' Only by piece-work could they obtain more in nominal wages [16] Lastly, in the towns there had come the introduction of machinery, the final establishment of the cash-nexus, and the beginning of great fluctuations in trade. In the old days the employer maintained his men when out of work, now he repudiated the responsibility, and the decline in the position of the artisan could be attributed by contemporary writers to 'the iniquitous oppressive practices of those who have the direction of them '[17]

Such seem to have been the causes of the growth of pauperism and of the degradation of the labourer, the single effective remedy attempted was the workhouse test, and this was abandoned in 1782 But might not landlords and farmers have done something more to check the downward course? Were there no possible remedies? One cannot help thinking the problem might have been solved by common justice in the matter of enclosures. Those who were most in favour of enclosing for the sake of agricultural improvements, like Eden and Young, yet held that, in place of his common field and pasture rights, the labourer should have had an acre, or two acres, or half an acre, as the case might be, attached to his cottage By such compensation much misery would have been prevented. A more difficult question is, whether

anything could have been done directly to relieve the stress of high prices? Burke contended that nothing could be done, that there was no necessary connection between wages and prices, and he would have left the evil to natural remedies.[18] And, as a matter of fact, in the North where there was no artificial interference with wages, the development of mining and manufactures saved the labourer

In the Midlands and South, where this needful stimulus was absent, the case was different, some increase in the labourer's means of subsistence was absolutely necessary here, in order that he might exist It would have been dangerous to let things alone, and the true way to meet the difficulty would have been for the farmers to have raised wages—a course of action which they have at times adopted. But an absence alike of intelligence and generosity, and the vicious working of the Poor Laws in the midland and southern counties, prevented this. The farmers refused to recognise the claims alike of humanity and self-interest, so the justices and country gentlemen took the matter into their own hands, while the labourers threw themselves upon the Poor Law, and demanded that the parish should do what the farmers refused to do, and should supplement insufficient wages by an allowance. This was the principle which radically vitiated the old Poor Law. The farmers supported the system, they wished every man to have an allowance according to his family, and declared that 'high wages and free labour would overwhelm them' A change had also come over the minds of the landowners as to their relation to the people. In addition to unthinking and ignorant benevolence, we can trace the growth of a sentiment which admitted an unconditional right on the part of the poor to an indefinite share in the national wealth, but the right was granted in such a way as to keep them in dependence and diminish their self-respect Though it was increased by the panic of the French revolution, this idea of bribing the people into passiveness was not absolutely new, it had prompted Gilbert's Act in 1782, which abolished the workhouse test, and provided work for those who were willing near their homes It was this Tory Socialism,[19] this principle of protection of the poor by the rich,

which gave birth to the frequent use of the term 'labouring poor,' so common in the Statutes and in Adam Smith, an expression which Burke attacked as a detestable canting phrase[20]

The war with Napoleon gave a new impulse to this pauperising policy Pitt and the country gentlemen wanted strong armies to fight the French, and reversed the old policy as regards checks upon population Hitherto they had exercised control over the numbers of the labourers by refusing to build cottages, in 1771, 'an open war against cottages' had been carried on, and landlords often pulled down cottages, says Arthur Young, 'that they may never become the nests, as they are called, of beggar brats'[21] But now by giving extra allowance to large families, they put a premium on early marriages, and labourers were paid according to the number of their children Further extension of the allowance system came from actual panic at home Farmers and landowners were intimidated by the labourers the landowners had themselves according to Malthus at once inflamed the minds of their labourers and preached to them submission[22] Rick-burning was frequent, at Swallowfield, in Wiltshire, the justices, 'under the influence of the panic struck by the fires, so far yielded to the importunity of the farmers as to adopt the allowance-system during the winter months' In 1795 some Berkshire justices 'and other discreet persons' issued a proclamation, which came to be considered as a guide to all the magistrates of the South of England[23] They declared it to be their unanimous opinion that the state of the poor required further assistance than had been generally given them, and with this view they held it inexpedient to regulate wages according to the statutes of Elizabeth and James, they would earnestly recommend farmers and others to increase the pay of their labourers in proportion to the present price of provisions, but if the farmers refused, they would make an allowance to every poor family in proportion to its numbers They stated what they thought necessary for a man and his wife and children, which was to be produced 'either by his own and his family's labour on an allowance from the poor-rates'[24] These were the beginnings of the allowance system, which under its many forms ended in thoroughly demoralising the people, it had

not been long in operation before we hear the labourers described as lazy, mutinous, and imperious to the overseers When grants in aid of wages were deemed insufficient, the men would go to a magistrate to complain, the magistrate would appeal to the humanity of the overseer, the men would add threats, and the overseer would give in In the parish of Bancliffe 'a man was employed to look after the paupers, but they threatened to drown him, and he was obliged to withdraw.' The whole character of the people was lowered by the admission that they had a right to relief independent of work.

X MALTHUS AND THE LAW OF POPULATION

It was during this state of things, with population rapidly increasing, that Malthus wrote. Yet he was not thinking directly of the Poor Law, but of Godwin, who, under the influence of Rousseau, had in his *Inquirer* ascribed all human ills to human government and institutions, and drawn bright pictures of what might be in a reformed society. Malthus denied their possibility. Under no system, he contended, could such happiness be insured, human misery was not the result of human injustice and of bad institutions, but of an inexorable law of nature, viz., that population tends to outstrip the means of subsistence. This law would in a few generations counteract the effects of the best institutions that human wisdom could conceive. It is remarkable that though in his first edition he gave a conclusive answer to Godwin, Malthus afterwards made an admission which deducted a good deal from the force of his argument. To the 'positive check' of misery and vice, he added the 'preventive check' of moral restraint, namely, abstinence from marriage.[1] To this Godwin made the obvious reply that such a qualification virtually conceded the perfectibility of society. But Malthus still thought his argument conclusive as against Godwin's Communism.[2] If private property was abolished, he said, all inducements to moral restraint would be taken away. His prophecy has, however, since his time, been refuted by the experience of the communistic societies in America, which proves that the absence of private property is not incompatible with moral restraint.[3]

Is Malthus's law really true? We see that it rests on two premisses. The first is, that the potential rate of increase of the human race is such that population, if unchecked, would double itself in twenty-five years, and Malthus assumes that this rate is constant in every race and at all times. His second premiss is the law of

diminishing returns, *i e.* that after a certain stage of cultivation a given piece of land will, despite any agricultural improvements, yield a less proportionate return to human labour, and this law is true Malthus did not deny that food might, for a time, increase faster than population; but land could not be increased, and if the area which supplied a people were restricted, the total quantity of food which it produced per head must be at length diminished, though this result might be long deferred Malthus himself regarded both his conclusions as equally self-evident 'The first of these propositions,' he says, 'I considered as proved the moment the American increase was related, and the second proposition as soon as it was enunciated ' Why then did he write so long a book? 'The chief object of my work,' he goes on to say, 'was to inquire what effects these laws, which I considered as established in the first six pages, had produced, and were likely to produce, on society,—a subject not very readily exhausted.'[4] The greater part of his essay is an historical examination of the growth of population and the checks on it which have obtained in different ages and countries; and he applies his conclusion to the administration of the Poor Laws in England

Now there are grave doubts as to the universal truth of his first premiss. Some of his earlier opponents, as Doubleday, laid down *the proposition that fecundity varies inversely to nutriment.*[5] Thus baldly stated their assertion is not true; but it is an observed fact, as Adam Smith noticed long ago, that the luxurious classes have few children, while a 'half-starved Highland woman' may have a family of twenty.[6] Mr Herbert Spencer again has asserted that fecundity varies inversely to nervous organisation, and this statement has been accepted by Carey and Bagehot[7] But it is not so much the increase of brain power as the worry and exhaustion of modern life which tends to bring about this result. Some statistics quoted by Mr Amasa Walker tend to prove this. He has shown that in Massachusetts, while there are about 980,000 persons of native birth as against only 260,000 immigrants, the number of births in the two classes is almost exactly the same, the number of marriages double as many in the latter, as in the former, and longevity less and mortality greater among

the Americans Mr. Cliffe-Leslie attributes this fact to a decline in fecundity on the part of American citizens The whole question, however, is veiled in great obscurity, and is rather for physiologists and biologists to decide, but there do seem to be causes at work which preclude us from assuming with Malthus that the rate of increase is invariable.[8]

Another American writer, Mr Henry George,[9] has recently argued that Malthus was wrong and Godwin right, that poverty is due to human injustice, to an unequal distribution of wealth, the result of private property in land, and not to Malthus's law of the increase of population or to the law of diminishing returns, both of which he altogether rejects With regard to the latter he urges with truth that in certain communities, for instance California, where the law of diminishing returns evidently does not come into operation, the same phenomenon of pauperism appears Now against Mr George it can be proved by facts that there are cases where his contention is not true. It is noticeable that he makes no reference to France, Norway, and Switzerland—all countries of peasant proprietors, and where consequently the land is not monopolised by a few But it is certain that in all these countries, at any rate in the present state of agricultural knowledge and skill, the law of diminishing returns does obtain; and it is useless to argue that in these cases it is the injustice of man, and not the niggardliness of nature, that is the cause of poverty, and necessitates baneful checks on population. Still I admit that Mr George's argument is partially true—a large portion of pauperism and misery is really attributable to bad government and injustice, but this does not touch the main issue, or disprove the law of diminishing returns

To return to Malthus's first proposition The phrase that 'population tends to outstrip the means of subsistence' is vague and ambiguous It may mean that population, if unchecked, *would* outstrip the means of subsistence, or it may mean that population *does* increase faster than the means of subsistence It is quite clear that, in its second sense, it is not true of England at the present day The average quantity of food consumed per head is yearly greater, and capital increases more than twice as

fast as population[10] But the earlier writers on population invariably use the phrase in the latter sense, and apply it to the England of their time At the present day it can only be true in this latter sense of a very few countries. It has been said to be true in the case of India, but even there the assertion can only apply to certain districts Mr George, however, is not content to refute Malthus's proposition in this sense; he denies it altogether, denies the statement in the sense that population, if unchecked, *would* outstrip the means of subsistence, and lays down as a general law that there need be no fear of over-population if wealth were justly distributed The experience of countries like Norway and Switzerland, however, where over-population does exist, although the distribution of wealth is tolerably even, shows that this doctrine is not universally true Another criticism of Mr George's, however, is certainly good, as far as it goes. Malthus's proposition was supposed to be strengthened by Darwin's theory, and Darwin himself says that it was the study of Malthus's book which suggested it to him,[11] but Mr George rightly objects to the analogy between man and animals and plants It is true that animals, in their struggle for existence, have a strictly limited amount of subsistence, but man can, by his ingenuity and energy, enormously increase his supply[12] The objection is valid, though it can hardly be said to touch the main issue

I have spoken of the rapid growth of population in the period we are studying We have to consider how Malthus accounted for it, and how far his explanation is satisfactory, as well as what practical conclusions he came to In the rural districts he thought the excessive increase was the consequence of the bad administration of the Poor Laws, and of the premium which they put on early marriages This was true, but not the whole truth, there are other points to be taken into account In the old days the younger labourers boarded in the farmhouses, and were of course single men, no man could marry till there was a cottage vacant, and it was the policy of the landlords in the 'close villages' to destroy cottages, in order to lessen the rates[13] But now the farmers had risen in social position and refused to board the labourers in their houses. The ejected labourers, encouraged by

the allowance system, married recklessly,[14] and though some emigrated into the towns, a great evil arose The rural population kept increasing while the cottage accommodation as steadily diminished, and terrible overcrowding was the result Owing to the recklessness and demoralisation of the labourer the lack of cottages no longer operated as any check on population [15] The change in the social habits of the farmers had thus a considerable effect on the increase of rural population and tended to aggravate the effects of the allowance system

In the towns the greatest stimulus came from the extension of trade due to the introduction of machinery. The artisan's horizon became indistinct, there was no visible limit to subsistence In a country like Norway, with a stationary society built up of small local units, the labourer knows exactly what openings for employment there are in his community, and it is well known that the Norwegian peasant hesitates about marriage till he is sure of a position which will enable him to support a family [16] But in a great town, among 'the unavoidable variations of manufacturing labour,'[17] all these definite limits were removed The artisan could always hope that the growth of industry would afford employment for any number of children—an expectation which the enormously rapid growth of the woollen and cotton manufactures justified to a large extent And the great demand for children's labour in towns increased a man's income in proportion to the number of his family, just as the allowance system did in the country.[18]

What remedies did Malthus propose? The first was the abolition of the Poor Law, and he was not singular in this opinion Many eminent writers of the time believed it to be intrinsically bad He suggested that at a given date it should be announced that no child born after the lapse of a year should be entitled to relief, the improvident were to be left to 'the punishment of nature' and 'the uncertain support of private charity'[19] Others saw that such treatment would be too hard, that a Poor Law of some sort was necessary, and that the problem was how to secure to the respectable poor the means of support without demoralising them His second remedy was moral restraint—abstention

from marriage till a man had means to support a family, accompanied by perfectly moral conduct during the period of celibacy.[20]

Let us now see what have been the actual remedies. The chief is the reform of the Poor Laws in 1834, perhaps the most beneficent Act of Parliament which has been passed since the Reform Bill. Its principles were (*a*) the application of the workhouse test and the gradual abolition of outdoor relief to able-bodied labourers, (*b*) the formation of unions of parishes to promote economy and efficiency, these unions to be governed by Boards of Guardians elected by the ratepayers, thus putting an end to the mischievous reign of the Justices of the Peace, (*c*) a central Board of Poor Law Commissioners, with very large powers to deal with the Boards of Guardians and control their action; (*d*) a new bastardy law, (*e*) a mitigation of the laws of settlement The effect of the new law was very remarkable. As an example, take the case of Sussex. Before 1834 there were in that county over 6000 able-bodied paupers; two years later there were 124[21] A similar change took place in almost all the rural districts, and the riots and rick-burning which had been so rife began to grow less frequent Equally remarkable was the effect upon the rates In 1818 they were nearly £8,000,000 in England and Wales, in 1837 they had sunk to a little over £4,000,000, and are now only £7,500,000 in spite of the enormous growth of population The number of paupers, which in 1849 was 930,000, has dwindled in 1881 to 800,000, though the population has meanwhile increased by more than 8,000,000 Notwithstanding this improvement the Poor Laws are by no means perfect, and great reforms are still needed.

Next in importance as an actual remedy we must place emigration Malthus despised it He thought that 'from the natural unwillingness of people to desert their native country, and the difficulty of clearing and cultivating fresh soil, it never is or can be adequately adopted'; that, even if effectual for the time, the relief it afforded would only be temporary, 'and the disorders would return with increased virulence.'[22] He could not of course foresee the enormous development which would be given to it

by steam navigation, and the close connection established thereby between England and America Since 1815 eight and a quarter millions of people have emigrated from the United Kingdom, since 1847 three and a half millions have gone from England and Wales alone, and this large emigration has of course materially lightened the labour market Nor could Malthus any more foresee the great importation of food which would take place in later times In his day England was insulated by war and the corn laws, now, we import one-half of our food, and pay for it with our manufactures

As to moral restraint, it is very doubtful, whether it has been largely operative According to Professor Jevons, writing fifteen years ago, it has been so only to a very small extent.[23] Up to 1860 the number of marriages was rather on the increase, but if among the masses, owing to cheap food, marriages have become more frequent, restraint has on the other hand certainly grown among the middle classes and the best of the artisan class

I wish to speak of one more remedy, which Malthus himself repudiated,[24] namely, that of artificial checks on the number of children. It has been said that such questions should only be discussed 'under the decent veil of a dead language' Reticence on them is necessary to wholesomeness of mind, but we ought nevertheless to face the problem, for it is a vital one These preventive checks on births excite our strong moral repugnance Men may call such repugnance prejudice, but it is perfectly logical, because it is a protest against the gratification of a strong instinct while the duties attaching to it are avoided Still our moral repugnance should not prevent our considering the question Let us examine results. What evidence is there as to the effects of a system of artificial checks? We know that at least one European nation, the French, has to some extent adopted them Now we find that in the purely rural Department of the Eure, where the population, owing presumably to the widespread adoption of artificial checks, is on the decline, although the district is the best cultivated in France and enjoys considerable material prosperity, the general happiness promised is not found This Department comes first in statistics of crime, one-third of

these crimes are indecent outrages, another third are paltry thefts, and infanticide also is rife[25] Though this is very incomplete evidence, it shows at least that you may adopt these measures without obtaining the promised results. The idea that a stationary and materially prosperous population will necessarily be free from vice is unreasonable enough in itself, and there is the evidence of experience against it Indeed, one strong objection to any such system is to be found in the fact that a stationary population is not a healthy condition of things in regard to national life, it means the removal of a great stimulus to progress One incentive to invention, in particular, is removed in France by attempts to adapt population to the existing means of subsistence, for in this respect it is certainly true that the struggle for existence is essential to progress. Such practices, moreover, prove injurious to the children themselves The French peasant toils ceaselessly to leave each of his children a comfortable maintenance It would be better for them to be brought up decently, and then left to struggle for their own maintenance Much of the genius and inventive power in English towns has come from the rural districts with men belonging to large families, who started in life impressed with the idea that they must win their own way It is wrong to consider this question from the point of view of wealth alone, we cannot overrate the importance of family life as the source of all that is best in national life Often the necessity of supporting and educating a large family is a training and refining influence in the lives of the parents, and the one thing that makes the ordinary man conscious of his duties, and turns him into a good citizen In the last resort we may say that such practices are unnecessary in England at the present day A man in the superior artisan or middle classes has only to consider *when* he will have sufficient means to rear an average number of children, that is, he need only regulate the time of his marriage Postponement of marriage, and the willing emigration of some of his children when grown up, does, in his case, meet the difficulty He need not consider whether there is room in the world for more, for there *is* room, and, in the interests of civilisation, it is not desirable that a nation with a great history

and great qualities should not advance in numbers For the labouring masses, on the other hand, with whom prudential motives have no weight, the only true remedy is to carry out such great measures of social reform as the improvement of their dwellings, better education and better amusements, and thus lift them into the position now held by the artisan, where moral restraints are operative Above all, it must be remembered that this is not a purely economic problem, nor is it to be solved by mechanical contrivances To reach the true solution we must tenaciously hold to a high ideal of spiritual life. What the mechanical contrivances might perchance give us is not what we desire for our country The true remedies, on the other hand, imply a growth towards that purer and higher condition of society for which alone we care to strive.

XI THE WAGE-FUND THEORY

Besides originating the theory of population which bears his name, Malthus was the founder of that doctrine of wages which, under the name of the wage-fund theory, was accepted for fifty years in England. To ascertain what the theory is we may take Mill's statement of it, as given in his review of Thornton *On Labour* in 1869. 'There is supposed to be,' he says, 'at any given instant, a sum of wealth which is unconditionally devoted to the payment of wages of labour. This sum is not regarded as unalterable, for it is augmented by saving, and increases with the progress of wealth, but it is reasoned upon as at any given moment a predetermined amount. More than that amount it is assumed that the wages-receiving class cannot possibly divide among them, that amount, and no less, they cannot possibly fail to obtain. So that the sum to be divided being fixed, the wages of each depend solely on the divisor, the number of participants.'[1] This theory was implicitly believed from Malthus's time to about 1870, we see it accepted, for instance, in Miss Martineau's Tales. And from the theory several conclusions were deduced which, owing to their practical importance, it is well to put in the forefront of our inquiry as to its truth. It is these conclusions which have made the theory itself and the science to which it belongs an offence to the whole working class. It was said in the first place that according to the wage-fund theory, Trades-Unions could not at any given time effect a general rise in wages. It was, indeed, sometimes admitted that in a particular trade the workmen could obtain a rise by combination, but this could only be, it was alleged, at the expense of workmen in other trades. If, for instance, the men in the building trade got higher wages through their Union, those in the iron foundries or in some other industry must suffer to an equivalent extent. In the

next place it was argued that combinations of workmen could not in the long-run increase the fund out of which wages were paid Capital might be increased by saving, and, if this saving was more rapid than the increase in the number of labourers, wages would rise, but it was denied that Unions could have any effect in forcing such an increase of saving And hence it followed that the only real remedy for low wages was a limitation of the number of the labourers. The rate of wages, it was said, depended entirely on the efficacy of checks to population

The error lay in the premisses The old economists, it may be observed, very seldom examined their premisses For this theory assumes—(1) that either the capital of a particular individual available for the payment of wages is fixed, or, at any rate, the total capital of the community so available is fixed, and (2) that wages are always paid out of capital Now it is plainly not true that a particular employer makes up his mind to spend a fixed quantity of money on labour,[2] the amount spent varies with a number of circumstances affecting the prospect of profit on the part of the capitalist, such, for instance, as the price of labour. Take the instance of a strike of agricultural labourers in Ireland, given by Mr Trench to Nassau Senior He was employing one hundred men at 10d a day, thus spending on wages £25 a week. The men struck for higher pay—a minimum of 1s 2d, and the more capable men to have more. Trench offered to give the wages asked for, but greatly reduced his total expenditure, as it would not pay to employ so many men at the higher rate Thus only seventeen were employed, the other eighty-three objected, and it ended in all going back to work at the old rate.[3] The fact is, that no individual has a fixed wage-fund, which it is not in his power either to diminish or increase. Just as he may reduce the total amount which he spends on labour, rather than pay a rate of wages which seems incompatible with an adequate profit, so he may increase that total amount, in order to augment the wages of his labourers, by diminishing the sum he spends upon himself or by employing capital which is lying idle, if he thinks that even with the higher rate of wages he can secure a sufficiently remunerative return upon his investment. Thus the

workman may, according to circumstances, get higher or lower wages than the current rate, without any alteration in the quantity of employment given When wages in Dorset and Wilts were 7s,[4] the labourers, if they had had sufficient intelligence and power of combination, might have forced the farmers to pay them 8s or 9s, for the latter were making very high profits As a matter of fact, where the workmen have been strong, and the profits made by the employers large, the former have often forced the employers to give higher wages

Neither is it true that there is in the hands of the community as a whole, at any given time, a fixed quantity of capital for supplying the wants of the labourers, so much food, boots, hats, clothes, etc, which neither employers nor workmen can increase It used to be said that a rise in money wages would simply mean that the price of all the commodities purchased by the labourers would rise proportionately, owing to the increase of demand, and that their real wages, *i e* the number of things they could purchase with their money, would be no greater than before But, as a matter of fact, the supply can be increased as fast as the demand It is true that between two harvests the available quantity of corn is fixed, but that of most other commodities can be increased at a short notice. For commodities are not stored up for consumption in great masses, but are being continually produced as the demand for them arises.

So far I have been speaking of the theory as applied to wages at a particular time Now, what did it further imply of wages in the long-run? According to Ricardo's law, which has been adopted by Lassalle and the Socialists, wages depend on the ratio between population and capital Capital may be *gradually* increased by saving, and population *may* be gradually diminished, but Ricardo thought that the condition of the labourer was surely on the decline, because population was advancing faster than capital While admitting occasionally that there had been changes in the standard of comfort, he yet disregarded these in his general theory, and assumed that the standard was fixed, that an increase of wages would lead to an increase of population, and that wages would thus fall again to their old rate, or

even lower. The amount of corn consumed by the labourer would not diminish, but that of all other commodities would decline[5] Later economists have qualified this statement of the supposed law Mill showed that the standard of comfort was not fixed, but might vary indefinitely This being the case, the labourer might sink even lower than Ricardo supposed possible, for population might increase till the labourer had not only less of everything else, but was forced down to a lower staple of life than corn, for instance, potatoes And this has, as a matter of fact, taken place in some countries But, on the other hand, the standard might rise, as it has risen in England, and Mill thought that it would rise yet more At first this was his only hope for the working classes[6] At a later period he trusted that the labourer, by means of co-operation, might become more and more self employing, and so obtain both profits and wages

It is interesting to inquire how this wage-fund theory grew up Why was it held that employers could not give higher real wages? Its origin is easy to understand When Malthus wrote his essay on population, there had been a series of bad harvests, and in those days but small supplies of corn could be obtained from abroad. Thus year after year there seemed to be a fixed quantity of food in the country and increasing numbers requiring food Population was growing faster than subsistence, and increased money wages could not increase the quantity of food that was to be had Thus in 1800, when corn was 127s the quarter, it was clear that the rich could not help the poor by giving them higher wages, for this would simply have raised the price of the fixed quantity of corn. Malthus assumed that the amount of food was practically fixed, therefore, unless population diminished, as years went on, wages would fall, because worse soils would be cultivated and there would be increased difficulty in obtaining food[7] But the period he had before his eyes was quite exceptional, after the peace, good harvests came and plenty of corn, food grew cheaper, though population advanced at the same rate. So that the theory in this shape was true only of the twenty years from 1795 to 1815 But, when it had once been said that wages depended on the proportion between population and food,

it was easy to substitute capital for food and say that they depended on the proportion between population and capital, food and capital being wrongly identified.[8] Then when the identification was forgotten, it was supposed that there is at any given moment a fixed quantity of wage-capital—food, boots, hats, furniture, clothes, etc —destined for the payment of wages, which neither employers nor workmen can diminish or increase, and thus the rate of wages came to be regarded as regulated by a natural law, independent of the will of either party [9]

We have already seen that this theory is false, we have now to substitute for it some truer theory, and explain thereby the actual phenomena of the labour market, such, for instance, as the fact that wages at Chicago or New York are twice as high as they are in England, while the prices of the necessaries of life are lower Though modern economists have pointed out the fallacies of the old wage-fund theory, no economist has yet succeeded in giving us a complete theory of wages in its place. I believe indeed that so complicated a set of conditions as are involved cannot be explained by any one formula, and that the attempt to do so leads to fallacies. Yet I am also aware that the public seem to feel themselves aggrieved that economists will not now provide them with another convenient set phrase in place of the wage-fund theory, and are inclined to doubt the validity of their explanations in consequence Now, wages in a given country depend on two things· the total amount of produce in the country, and the manner in which that produce is divided. To work out the former problem we must investigate all the causes which affect the whole amount of wealth produced, the natural resources of the country, its political institutions, the skill, intelligence, and inventive genius of its inhabitants The division of the produce, on the other hand, is determined mainly by the proportion between the number of labourers seeking employment and the quantity of capital seeking investment, or, to put the case in a somewhat different way, instead of saying that wages are paid out of stored-up capital, we now say that they are the labourer's share of the produce [10] What the labourer's share will be depends first on the quantity of produce he can turn out, and

secondly, on the nature of the bargain which he is able to make with his employer We are now in a position to explain the question put above, why wages in America are double what they are in England An American ironmaster, if asked to give a reason for the high wages he pays, would say that the land determines the rate of wages in America, because under the Free Homestead Law, any man can get a piece of land for a nominal sum, and no puddler will work for less than he can get by working on this land [11] Now, in the Western States the soil is very fertile, and though the average yield is lower than in Wiltshire, the return in proportion to the labour expended is greater Moreover, labour being scarce, the workman has to be humoured, he is in a favourable position in making his bargain with the employer, and obtains a large share of the produce Thus agricultural wages are very high, and this explains also the cause of high wages in the American iron-trade and other American industries In consequence of these high wages the manufacturer is obliged to make large use of machinery, and much of our English machinery, *e g* that of the Leicester boot and shoe trade, has been invented in America Now, better machinery makes labour more efficient and the produce per head of the labourers greater Further, according to the testimony of capitalists, the workmen work harder in America than in England, because they work with hope; they have before them the prospect of rising in the world by their accumulations Thus it is that the produce of American manufactures is great, and allows of the labourer obtaining a large share High wages in America are therefore explained by the quantity of produce the labourer turns out being great and by the action of competition being in his favour

There are, however, other causes influencing the rate of wages in America which are less favourable to the workmen Protection, for instance, diminishes real wages by enhancing the cost of many articles in common use, such as cutlery It is owing to Protection also that capitalists are able to obtain exceptionally high profits at the expense of the workmen. By combining and forming rings they can govern the market, and not only control prices but dictate the rate of wages. Six or seven years ago, the

whole output of Pennsylvanian anthracite was in the hands of a few companies. Hence it was that, in the Labour War of 1877, the workmen declared that, while they did not mind wages being fixed by competition, they would not endure their being fixed by rings, and that such rings would produce a revolution. And the monopoly of these companies was only broken through by a great migration of workmen to the West. The experience of America in this instance is of interest in showing how, as industry advances, trade tends to get concentrated into fewer hands, hence the danger of monopolies. It has even been asserted that Free Trade must lead to great natural monopolies. This may be true of a country like America which has internal but not external free trade, but only of such a country, for foreign competition would prevent a knot of capitalists from ever obtaining full control of the market.

I have shown why wages are higher in America than in England. We may go on to inquire why they are higher in England than in any other part of Europe. The great reason is that the total amount of wealth produced in this country is larger, and that from a variety of causes, material and moral. The chief material causes are our unrivalled stores of coal and iron, and perhaps, above all, our geographical position. On the moral side, our political institutions, being favourable to liberty, have developed individual energy and industry in a degree unknown in any other country. On the other hand, it has been said that the exclusion of the labourer from the land in England must have tended to lower wages. And no doubt the adoption of a system of large farms has driven the labourers into the towns, and made the competition for employment there very keen. But, to set against this, the efficiency of English manufacturing labour is largely due to this very fact, that it is not able to shift on to the land. While in America the whole staff of a cotton factory may be changed in three years, in England the artisan 'sticks to his trade,' and brings up his children to it, and thus castes are formed with inherited aptitudes, which render labour more efficient, and its produce greater. I believe the higher wages obtained in England, in comparison with the Continent, are mainly

due to greater efficiency of labour—that this is the chief cause why the total produce is greater. But if we go further, and ask what determines the division of the produce, the answer must be mainly competition. To return to the comparison with America, the reason why the English labourer gets lower wages than the American is the great competition for employment in the over-stocked labour-market of this country.

I must notice an objection to the theory of wages as stated above. Wages, I have explained, are the labourers' share of the produce, and are paid out of it. But, it may be said, while our new Law Courts, or an ironclad, are being built—operations which take a long time before there is any completed result—how can it be correctly held that the labourer is paid out of the produce? It is of course perfectly true that he is maintained during such labours only by the produce of others, and that unless some great capitalist had either accumulated capital, or borrowed it, the labourer could not be paid. But this has nothing to do with the rate of wages. That is determined by the amount of the produce and is independent of the method of payment. What the capitalist does is merely to pay in advance the labourer's share, as a matter of convenience.

We will next inquire what are the limits to a rise of wages in any particular trade? The answer depends on two things. First, Is the capitalist getting more than the ordinary rate of profits? If he is not, he will resist a rise on the ground that he 'cannot afford' to pay more wages. This is what an arbitrator, for instance, might say if he examined the books, and he would mean by it that, if the employer had to raise his wages, he would have to be content with lower profits than he could make in other trades. As a matter of fact, however, capitalists often do make exceptionally high profits, and it is in such cases that Trades-Unions have been very successful in forcing them to share these exceptional profits with their men. Secondly, though the employer be getting only ordinary profits, his workmen may still be strong enough to force him to give higher wages, but he will only do so permanently if he can compensate himself by raising the price of his commodity. Thus the second limit to a rise in

wages in a particular trade is the amount which the consumer can be forced to pay for its products. Workmen have often made mistakes by not taking this into account, and have checked the demand for the articles which they produced, and so brought about a loss both to their masters and themselves [12] In a particular trade then the limit to a rise in wages is reached when any further rise will drive the employer out of the trade, or when the increased price of the commodity will check the demand When dealing with the general trade of a country, however, we can neglect prices altogether, since there can be no such thing as a general rise in prices while the value of the precious metal is stationary Could, then, the whole body of the workmen throughout the kingdom, by good organisation, compel employers to accept lower profits? If there was a general strike, would it be the interest of the employers to give way? It is impossible to answer such a question beforehand It would be a sheer trial of strength between the two parties, the outcome of which cannot be predicted, for nothing of the kind has ever actually taken place. And though there is now a nearer approximation than ever before to the supposed conditions, there has as yet been nothing like a general organisation of workmen.

Assuming, however, that the workmen succeeded in such a strike, we can then ask what would be the effect of a general rise of wages in the long-run? One of several results might ensue The remuneration of employers having declined, their numbers might diminish, and the demand for labour would then diminish also and wages fall Or again the decline in the rate of interest might check the accumulation of capital, thus again diminishing the demand for labour Or, on the other hand, the rise in wages might be permanent, the remuneration of employers still proving sufficient, and the accumulation of capital remaining unchecked. Or lastly, higher wages might lead to greater efficiency of labour, and in this case profits would not fall It is impossible to decide on *a priori* grounds which of these results would actually take place.

Returning to our period, we may apply these principles to explain the fall in wages between 1790 and 1820 During this

period, while rent was doubled, interest also was nearly doubled (this by the way disproves Mr George's theory on that point),[13] and yet wages fell. We may take Mr Porter's estimate 'In some few cases there had been an advance of wages, but this occurred only to skilled artisans, and even with them the rise was wholly incommensurate with the increased cost of all the necessaries of life The mere labourer . did not participate in this partial compensation for high prices, but was at the same or nearly the same wages as had been given before the war' In 1790 the weekly wage skilled artisans and farm labourers respectively would buy 82 and 169 pints of corn in 1800 they would buy 53 and 83.[14] According to Mr Barton, a contemporary writer, wages between 1760 and 1820, 'estimated in money, had risen 100 per cent., estimated in commodities, they had fallen 33 per cent'[15] What were the causes of this fall? Let us first take the case of the artisans and manufacturing labourers One cause in their case was a series of bad harvests To explain how this would affect wages in manufactures we must fall back on the deductive method, and assume certain conditions from which to draw our conclusions Let us suppose two villages side by side, one agricultural, the other manufacturing, in the former of which the land is owned by landowners, and tilled by labour employed by farmers Suppose the manufacturing village to be fed by its neighbours in exchange for cutlery Then, if there is a bad harvest in the agricultural village, every labourer in the manufacturing village will have to spend more on corn The owners of land will gain enormously, the farmers will be enriched in so far as they can retain the increased prices for themselves, which they will do, if holding on leases But every one else will be poorer, for there has been a loss of wealth In order to get his corn, the labourer will have to give more of his share of the produce, and hence the demand for all other goods, which are produced for the labourers' consumption, will diminish Nothing affects the labourer so much as good or bad harvests, and it is because of its tendency to neutralise the consequences of deficient crops at home, that the labourer has gained so much by Free Trade. When we have a bad harvest here, we get plenty

of corn from America, and the labourer pays nearly the same price for his loaf, and has as much money as before left to spend on other commodities. Still, even at the present day, some depression of trade is generally associated with bad harvests. And though Free Trade lessens the force of their incidence on a particular locality, it widens the area affected by them—a bad harvest in Brazil may prejudice trade in England.

The next point to be taken into consideration is the huge taxation which fell upon the workmen at this time, even as late as 1834 half the labourers' wages went in taxes. There was also increase in the National Debt. During the war we had nominally borrowed £600,000,000, although owing to the way in which the loans were raised, the actual sum which came into the national exchequer was only £350,000,000. All this capital was withdrawn from productive industry, and the demand for labour was diminished to that extent. Lastly, the labourer was often actually paid in bad coin, quantities of which were bought by the manufacturers for the purpose, and he was robbed by the truck system, through which the employer became a retail trader, with power to over-price his goods to an indefinite extent.

Some of these causes affected the agricultural and manufacturing labourers alike, they suffered, of course, equally from bad harvests. But we have seen in former lectures that there were agrarian and social changes during this period, which told upon the agricultural labourer exclusively. The enclosures took away his common-rights, and where the land, before enclosure, had been already in cultivation, they diminished the demand for his labour, besides depriving him of the hope of becoming himself a farmer, and, to mention a seemingly small but really serious loss, cutting off his supply of milk, which had been provided by the 'little people' who kept cows on the commons. He was further affected by the enormous rise in cottage rents. Mr. Drummond, a Surrey magistrate, told the Commission on Labourers' Wages in 1824, that he remembered cottages with good gardens letting for 30s. before the war, while at the time when he was speaking the same were fetching £5, £7, or £10.

This rise was due to causes we have before had in review, to

the growth of population, the expulsion of servants from the farmhouses, and the demolition of cottages in close villages. When the labourers, to meet the deficiency, built cottages for themselves on the wastes, the farmers pulled them down, and, if the labourers rebuilt them, refused to employ them, with the result that such labourers became thieves and poachers[16] Again, during this period, it was not uncommon for the farmers absolutely to determine what wages should be paid, and the men in their ignorance were entirely dependent on them Here are two facts to prove their subservience In one instance, two pauper families who had cost their parish no less than £20 a year each, were given instead an acre of land rent free, and the rates were relieved to that amount, but though successful, the experiment was discontinued, 'lest the labourer should become independent of the farmer.'[17] And this is the statement of an Essex farmer in 1793 'I was the more desirous to give them an increase of pay, as it was unasked for by the men, who were content with less than they had a right to expect' The agricultural labourer at this time was in an entirely helpless condition in bargaining with his employer Nor were the farmers the only class who profited by his deterioration, for the high rents of the time were often paid out of the pocket of the labourer The period was one of costly wars, bad seasons, and industrial changes The misfortunes of the labouring classes were partly inevitable, but they were also largely the result of human injustice, of the selfish and grasping use made of a power which exceptional circumstances had placed in the hands of landowners, farmers, and capitalists.

XII RICARDO AND THE GROWTH OF RENT

IN Political Economy, as in other sciences, a careful study of method is an absolute necessity. And this subject of method will come into special prominence in the present lecture, because we have now to consider the writings of a man of extraordinary intellect and force, who, beyond any other thinker, has left the impress of his mind on economic method. Yet even he would have been saved from several fallacies, if he had paid more careful attention to the necessary limitations of the method which he employed. It may be truly said that David Ricardo has produced a greater effect even than Adam Smith on the actual practice of men as well as on the theoretical consideration of social problems. His book has been at once the great prop of the middle classes, and their most terrible menace, the latter, because from it have directly sprung two great text-books of Socialism, *Das Kapital* of Karl Marx, and the *Progress and Poverty* of Mr. Henry George. And yet for thirty or forty years Ricardo's writings did more than those of any other author to justify in the eyes of men the existing state of society

Ricardo's life has little in it of external interest He made his fortune on the Stock Exchange by means of his great financial abilities, and then retired and devoted himself to literature During the few years that he sat in Parliament, he worked (we have it on Huskisson's testimony) a great change in the opinions of legislators, even in those of the country squires—a remarkable fact, since his speeches are highly abstract, and contain few allusions to current politics, reading in fact like chapters from his book We may notice one direct effect of his speeches they were the most powerful influence in determining the resumption of cash payments In his private life he associated much with Bentham and James Mill.

James Mill, like Bentham and Austin, was a staunch adherent of the deductive method, and it was partly through Mill's influence that Ricardo adopted it. Mill was his greatest friend, it was he who persuaded him both to go into Parliament, and to publish his great book. Ricardo's political opinions in fact merely reflect those of James Mill, and the other philosophical Radicals of the time, though in Political Economy he was their teacher Ricardo reigned without dispute in English Economics from 1817 to 1848, and though his supremacy has since then been often challenged, it is by no means entirely overthrown. His influence was such that his method became the accepted method of economists, and to understand how great the influence of method may be, you should turn from his writings and those of his followers to Adam Smith, or to Sir Henry Maine, where you come in contact with another cast of mind, and will find yourselves in a completely different mental atmosphere Now what is this deductive method which Ricardo employed? It consists in reasoning from one or two extremely simple propositions down to a series of new laws He always employed this method, taking as his great postulate that all men will on all matters follow their own interests. The defect of the assumption lies in its too great simplicity as a theory of human nature Men do not always know their own interest. Bagehot points out that the £10 householders, who were enfranchised by the first Reform Bill, were after 1832 the most heavily taxed class in the community, though the remedy was in their own hands, because they were ignorant and apathetic And even when men know their interests, they will not always follow them, other influences intervene, custom, prejudice, even fear. Cairnes frankly admits these defects in Ricardo's method,[1] but it took economists some thirty or forty years to learn the necessity of testing their conclusions by facts and observations[2] Since 1848 their attitude has improved; it is now seen that we must insist upon the verification of our premisses, and examine our deductions by the light of history.

Ricardo has deduced from very simple data a famous law of industrial progress In an advancing community, he says, rent

must rise, profits fall, and wages remain about the same[3] We shall find from actual facts that this law has been often true, and is capable of legitimate application, though Mr Cliffe-Leslie would repudiate it altogether, but it cannot be accepted as a universal law The historical method, on the other hand, is impotent of itself to give us a law of progress, because so many of the facts on which it relies are, in Economics, concealed from us By the historical method we mean the actual observation of the course of economic history, and the deduction from it of laws of economic progress, and this method, while most useful in checking the results of deduction is, by itself, full of danger from its tendency to set up imperfect generalisations Sir H Maine and M Laveleye, for instance, have taken an historical survey of land-tenure, and drawn from it the conclusion that the movement of property in land is always from collective to individual ownership, and Mr Ingram,[4] again, alluding to this law, accepts it as true that there is a natural tendency towards private property in land He can build his argument on the universal practice from Java to the Shetlands, and it would seem a legitimate conclusion that the tendency will be constant Yet there is at the present day a distinct movement towards replacing private by collective ownership, due to the gradual change in the opinions of men as to the basis on which property in land should rest Mill, in 1848, argued that where the cultivator was not also the owner, there was no justification for private ownership, later in his life, he advocated the confiscation of the unearned increment in land[5] If we ask, 'Was he right?' the answer must be Every single institution of society is brought to the test of utility and general national well-being; hence, private property in land, if it fails under this test, will not continue So too with the rate of interest older economists have insisted on the necessity of a certain rate, in order to encourage the accumulation of capital, but we may fairly ask whether the rate of remuneration for the use of capital is not too high—whether we could not obtain sufficient capital on easier terms? These considerations show that, in predicting the actual course of industrial progress, we must not be content to say that because there

has been a movement in a certain direction in the past—for example, one from status to contract—it will therefore continue in the future We must always apply the test, Does it fit in with the urgent present requirements of human nature?

Ricardo's influence on legislation, to which I have already alluded, was twofold, it bore directly upon the special subject of currency and finance, and, what is more remarkable, it affected legislation in general As regards finance, his pamphlets are the real justification of our monetary system, and are still read by all who would master the principles of currency. With respect to other legislation, he and his friends have the great credit of having helped to remove not merely restrictions on trade in general, but those in particular which bore hardest on the labourer. When Joseph Hume, in 1824, proposed the repeal of the Combination Laws, he said he had been moved thereto by Ricardo But though Ricardo advocated the removal of restrictions which injured the labourer, he deprecated all restrictions in his favour, he ridiculed the Truck Acts, and supported the opposition of the manufacturers to the Factory Acts—an opposition which, be it remembered, though prompted by mere class interest, was also supported in the name and on the then accepted principles of economic science.

In this way Ricardo became the prop, as I have called him, of the middle classes Throughout his treatise there ran the idea of natural law, which seemed to carry with it a sort of justification of the existing constitution of society as inevitable. Hence his doctrines have proved the readiest weapons wherewith to combat legislative interference or any proposals to modify existing institutions Hence, too, his actual conclusions, although gloomy and depressing, were accepted without question by most of his contemporaries Another school, however, has grown up, accepting his conclusions as true under existing social conditions, but seeing through the fallacy of his 'natural law' These are the Socialists, through whom Ricardo has become a terror to the middle classes The Socialists believe that, by altering the social conditions which he assumed to be unalterable, Ricardo's conclusions can be escaped Karl Marx and Lassalle have adopted

Ricardo's law of wages, but they have argued that, since by this law wages, under our present social institutions, can never be more than sufficient for the bare subsistence of the labourer, we are bound to reconsider the whole foundation of society Marx also simply accepts Ricardo's theory of value The value of products, said Ricardo, is determined by the quantity of the labour expended on them, and Marx uses this statement to deduce the theorem that the whole value of the produce rightly belongs to labour, and that by having to share the produce with capital the labourer is robbed

Mr Henry George, again, the latest Socialist writer, is purely and entirely a disciple of Ricardo. The whole aim of his treatise, *Progress and Poverty,* is to prove that rent must rise as society advances and wealth increases [6] It is not the labourer, Ricardo reasoned, who will be the richer for this progress, nor the capitalist, but the owner of land. Mr. George's theory of progress is the same Putting aside his attempt to show a connection between the laws of interest and wages, which he contends will rise and fall together, there is little difference between his conclusions and Ricardo's Others before Mr. George had clearly enough seen this bearing of the law of rent Roesler, the German economist, says 'Political Economy would only be a theory of human degradation and impoverishment, if the law of rent worked without modification' [7]

Now let us see what are the assumptions on which Ricardo grounded his law about the course of rent, wages, and profits in a progressive community. The pressure of population, he argued, makes men resort to inferior soils; hence the cost of agricultural produce increases, and therefore rent rises But why will profits fall? Because they depend upon the cost of labour,[8] and the main element in determining this is the cost of the commodities consumed by the workmen. Ricardo assumes that the standard of comfort is fixed If, therefore, the cost of a quartern loaf increases, and the labourer is to obtain the same number of them, his wages must rise, and profits therefore must fall Lastly, why should wages remain stationary? Because, assuming that the labourer's standard of comfort is fixed, a rise of wages or a fall

in prices will only lead to a proportionate increase of population The history of the theory of rent is very interesting, but it is out of our road, so I can only lightly touch upon it Adam Smith had no clear or consistent theory at all on the subject, and no distinct views as to the relation between rent and price. The modern doctrine is first found in a pamphlet by a practical farmer named James Anderson, published in 1777, the year after the appearance of *The Wealth of Nations,*[9] but it attracted little attention till it was simultaneously re-stated by Sir Edward West, and by Malthus in his pamphlet on the Corn Laws.[10] Had the theory, however, been left in the shape in which they stated it, it would have had little influence It was Ricardo, who, puzzled by the question of rent, snatched at the theory, and gave it currency by embodying it in his whole doctrine of value and of economic development

Ricardo's two great positive conclusions are· first, that the main cause of rent is the necessity of cultivating inferior soil as civilisation advances, and secondly, that rent is not the cause but the result of price[11] The theory has been disputed and criticised, but nearly all the objections have come from persons who have not understood it. We may say conclusively that, as a theory of the causes of rent, apart from that general doctrine of industrial development of which in Ricardo it forms a part, the theory is true The one formidable objection which can be urged against it is that the rise in rents in modern times has been due not so much to the necessity of resorting to inferior soils, as to improvements in agriculture; but when Professor Thorold Rogers[12] attacks the theory on this ground, he merely proves that Ricardo has overlooked some important causes which have led to an increase of rents since the Middle Ages

What, then, are we justified in stating to be the ultimate causes of rent? First, the fertility of the soil and the skill of the cultivator, by which he is able to raise a larger produce than is necessary for his own subsistence; this makes rent physically possible Next, the fact that land is limited in quantity and quality, that is, that the supply of the land most desirable from its situation and fertility is less than the demand this allows of rent

being exacted.[13] The early colonists in America paid no rent, because there was an abundance of land open to every one, but twenty years later, rent was paid because population had grown Let us see exactly what happens in such a case A town is founded on the sea-coast, as it grows, the people in that town have to get some of their food from a distance Assume that the cost of raising that corn and bringing it to the town is 20s, and that the cost of raising it close to the town is 15s for every five bushels (we will suppose that in the latter instance the cost of carriage is *nil*), then, as both quantities will be sold at the same price, the surplus 5s in the latter case will go for rent Thus we find that rent has arisen because corn is brought into the market at different costs In twenty years more, rents will have risen still further, because soils still more inferior in fertility or situation will have been brought into cultivation But the rise of rent is not directly due to the cultivation of inferior soils, the direct cause is the increase of population which has made that cultivation necessary

Going back to the question raised by Professor Rogers, as to the effect of agricultural improvements on rent, we may notice that the controversy on this question was first fought out between Ricardo and Malthus Ricardo thought that improvements would lead to a fall in rents, Malthus maintained the opposite, and he was right Take an acre of land close to the town, such as we were considering above, with an original produce of five bushels of wheat, but which, under improved cultivation, yields forty bushels If the price of wheat remains the same, and all the land under cultivation has been improved to an equivalent extent, the rent will now be 5s multiplied by eight. Yet there are a few historical instances where agricultural improvements have been followed by a fall in rents For instance, during the Thirty Years' War the Swiss supplied Western Germany with corn, and introduced improvements into their agriculture, in order to meet the pressure of the demand After the peace of Westphalia the demand fell off, the Swiss found they were producing more than they could sell, prices fell, and, as a consequence, rents fell also [14]

Professor Rogers has further objected to Ricardo's theory that it does not explain the historical origin of rent. The term 'rent' is ambiguous, it has been used for the payment of knight-service, for the performances of religious offices, for serfs' labour and the sum of money for which it was commuted In Ricardo's mouth it meant only the money rent paid by a capitalist farmer, expecting the usual rates of profits, but it is quite true that these modern competition rents did not arise till about the time of James I [15]

The last point in the theory of rent is the relation between rent and price Before Ricardo's time most practical men thought that rent was a cause of price Ricardo answered, There is land cultivated in England which pays no rent, or at least there is capital employed in agriculture which pays none, therefore there is in the market corn which has paid no rent, and it is the cost of raising this corn, which is grown on the poorest land, that determines the price of all the corn in the same market [16] Probably he was right in his statement that there is land in England which pays no rent, but even if all land and all farmers' capital paid rent, it would not affect the argument, which says that rent is not the cause but the result of price We may conclude that at the present day rent is determined by two things the demand of the population, and the quantity and quality of land available These determine it by fixing the price of corn.

Now let us turn to facts, to see how our theories work We will take the rise in rents between 1790 and 1830, and ask how it came about The main causes were—(1) Improvements in agriculture, the chief of which were the destruction of the common-field system, rendering possible the rotation of crops, the consolidation of farms with the farmhouse in the centre of the holding, and the introduction of machinery and manures, (2) the great growth of population, stimulated by mechanical inventions, (3) a series of bad harvests, which raised the price of corn to an unparalleled height, (4) the limitation of supply, the population having to be fed with the produce of England itself, since, during the first part of the period all supplies from abroad were cut off by war, and later, higher and higher protective du-

ties were imposed, culminating in the famous corn bill of 1815 After 1815, however, a fall in rents—not a very great one—took place, a process which greatly puzzled people at the time It was the consequence of a sudden coincidence of agricultural improvements and good harvests, there was for a time an over production of corn, and wheat fell in price from 90s. to 35s This fact is the explanation of Ricardo's mistaken idea that agricultural improvements tend to reduce rents Having no historical turn of mind, such as Malthus had, he did not recognise that this effect of agricultural improvements was quite accidental This case, indeed, and the instance of Switzerland given above, with the similar events in Germany about 1820, are the only historical examples of such an effect. For a time there was great agricultural distress, the farmers could not get their rents reduced in proportion to the fall in prices, and many, in spite of the enormous profits they had before made under beneficial leases, were ruined, the farming class never wholly recovered till the repeal of the Corn Laws But the fall was temporary and exceptional Taking the period as a whole its striking feature is the rise of rents, and this rise was due to the causes stated· increased demand on the part of an increased population, and limitation of quantity, with improved quality, of the land available

I have hitherto been considering the theory of agricultural rents, I now pass to a subject of perhaps greater present importance—ground-rents in towns If the rise in the rent of agricultural lands has been great, the rise in that of urban properties has been still more striking. A house in Lombard Street, the property of the Drapers' Company, was in 1668 let for £25; in 1887 the site alone was let for £2600 How do we account for this? It is the effect of the growth of great towns and of the improvements which enable greater wealth to be produced in them, owing to the development of the arts, and to the extension of banking and credit. Are town rents then a cause of the rise in prices? Certainly not. Rent may be an element in price, but the actual amount of rent paid depends upon these two things: the demand of the population for commodities, which

determines price, and the value of a particular site for purposes of business

These considerations bring us to the question now sometimes raised Is rent a thing which the State can abolish? Is it a human institution, or the result of physical causes beyond our control? If we abolish agricultural rent, the result would simply be, as Ricardo says, that the rent would go into the pockets of the farmers, and some of them would live like gentlemen Rent itself is the result of physical causes, but it is within our power to say who shall receive the rent This seems a fact of immense importance, but the extent of its significance depends largely on the future course of rent in England, and so we are bound to inquire whether Ricardo was right in assuming that rents must necessarily rise in a progressing state Many think the contrary, and that we are now on the eve of a certain and permanent fall in agricultural rents, and if rents continue steadily to fall, the question will become one of increasing insignificance As means of communication improve, we add more and more to the supply of land available for satisfying the wants of a particular place, and as the supply increases, which it is likely to do to an increasing extent, the price of land must fall Social causes have also influenced rents in England, and social changes are probably imminent, which will at once reduce the value of land for other than agricultural purposes, and increase the amount of it devoted to agriculture Such changes would likewise tend to diminish rent. We may say therefore that, since there are these indications of a permanent fall in rents, so great a revolution as the transference of rent from the hands of private owners to the nation would not be justified by the amount which the nation would acquire The loss and damage of such a revolution would not be adequately repaid

But will rent in towns fall? Here it is impossible to predict For instance, we cannot say whether London will continue to grow as rapidly as it has done heretofore. Now it is the monetary centre of the world, owing to the greater use of telegraphy, it is possible that it may not retain this pre-eminence The decay of the provincial towns was largely due to the growth of great

estates, which enabled their proprietors to live and spend in London, but if changes come to break up these large properties, London will cease to be the centre of fashion, or at any rate to have such a large fashionable population Politics, moreover, are certainly tending to centre less in London. And further inventions in the means of locomotion and the greater use of electricity may result in causing a greater diffusion of population.

XIII TWO THEORIES OF ECONOMIC PROGRESS

SINCE Mill, in 1848, wrote his chapter on the future of the working classes, the question of the distribution of wealth has become of still greater importance. We cannot look round on the political phenomena of to-day without seeing that this question is at the root of them. We see the perplexity in which men stand, and the divisions springing up in our great political parties, because of the uncertainty of politicians how to grapple with it. Political power is now widely diffused, and whatever may be the evils of democracy, this good has come of it, that it has forced men to open their eyes to the misery of the masses, and to inquire more zealously as to the possibility of a better distribution of wealth. Economists have to answer the question whether it is possible for the mass of the working classes to raise themselves under the present conditions of competition and private property. Ricardo and Henry George have both answered, No, and the former has formulated a law of economic development, according to which, as we have seen, rent must rise, profits and interest fall, and wages remain stationary, or perhaps fall. Now is there any relation of cause and effect between this rise in rent and fall in wages? Ricardo thought not. According to his theory, profits and wages are fixed independently of rent, a rise in rent and a fall in wages might be due to the same cause, but the one was not the result of the other, and the rise in rent would not be at the expense of the labourers. Yet practical opinion goes in the opposite direction. From the evidence of farmers and land-agents we see that it is widely believed that the high rents exacted from farmers have been partly taken out of the pockets of the labourers. 'If there is a fall in the price of corn, agricultural wages will fall, unless there is a corresponding fall in rent,' was said before a Parliamentary Commission in 1834.[1]

Ten years ago the connection was admitted in Ireland, and the Land Act of 1870 was founded on the belief that rack-rents were not really the surplus left when capital and labour had received their fair returns, and that the only limit to the rise of rents was the bare necessities of the peasantry In England it has been assumed that wages and profits have fixed lines of their own independent of rent, but this is not universally true, where the farmers have suffered from high rents, they in their turn have ground down the labourers Thus even in England rent has been exacted from the labourer, and this is not an opinion but a fact, testified by the evidence of agents, clergy, and farmers themselves What appears accurate to say about the matter is, that high rents have in some cases been one cause of low wages.

This direct effect of rent on wages under certain conditions is quite distinct from the 'brazen law of wages' which Lassalle took from Ricardo It is impossible, according to Ricardo, for labourers to improve their position under existing industrial conditions, for if wages rise, population will advance also, and wages return to their own level; there cannot therefore be any permanent rise in them Ricardo, indeed, did not deny that the standard of comfort varied in different countries, and in the same country at different times, but these admissions he only made parenthetically, he did not seem to think they seriously touched the question of population, and they did not affect his main conclusions For instance, he argues that a tax on corn will fall entirely on profits, since the labourer is already receiving the lowest possible wages This statement may be true with regard to the very lowest class of labourers, but it certainly does not apply to artisans, nor to a large proportion of English working men at the present time With them, at any rate, it is not true that they are already receiving the lowest possible wage, nor that there is an invincible bar to their progress Let us turn to the test of facts and see if wages have risen since 1846 Henry George says that free trade has done nothing for the labourer;[2] Mill, in 1848, predicted the same. Professor Cairnes came to a very similar conclusion, writing in 1874 he said, that 'the large addition to the wealth of the country has gone neither to profit

nor to wages, nor yet to the public at large, but to swell . . . the rent-roll of the owner of the soil.'[3] Yet it is a fact that though the cost of living has undoubtedly increased, wages have risen in a higher ratio. Take the instance of a carpenter as a fair average specimen of the artisan class. The necessaries of a carpenter's family in 1839 cost 24s. 10d. per week, in 1875 they cost 29s. But meanwhile the money wages of a carpenter had risen from 24s. to 35s. Thus there had been not only a nominal but a real rise in his wages. Turning to the labourer, his cost of living was about 15s. in 1839, it was a little under 15s. in 1875. The articles he consumes have decreased in cost, while in the case of the artisan they have increased, because the labourer spends a much larger proportion of his wages on bread. The labourer's wages meanwhile have risen from 8s. to 12s. or 14s.; in 1839 he could not properly support himself on his wages alone.[4] These facts seem conclusive, but certainty is difficult from the very varying estimates of consumption and money wages. For strong proof of a rise in agricultural wages we may take a particular instance. On an estate in Forfar the yearly wages of a first ploughman were by the wages-book, in

1840	£28	2	0		1870	£42	5	0
1850	28	15	0		1880	48	9	0
1860	39	7	0					

According to his own admission the standard of comfort of the first ploughman employed on this estate in 1810 had risen, for he complained, in a letter describing his position, of his increased expenditure, increased not because things were dearer, but because he now needed more of them.

We may take as further evidence the statistics of the savings of the working classes; it is impossible to get more than an approximate estimate of them, but they probably amount to about £130,000,000.[5] To these we may add the savings actually invested in houses. In Birmingham there are 13,000 houses owned by artisans. All this is small compared with the whole capital of the country, which, in 1875, was estimated at £8,500,000,000 at least, with an annual increase of £235,000,000—this

latter sum far exceeding the total savings of the working classes[6] The comparison will make us take a sober view of their improvement, yet the facts make it clear that the working classes can raise their position, though not in the same ratio as the middle classes Mr Mulhall also estimates that there is less inequality between the two classes now than forty years ago. He calculates that the average wealth of a rich family has decreased from £28,820 to £25,803, or 11 per cent, that of a middle-class family has decreased from £1439 to £1005, or 30 per cent, while that of a working-class family has *increased* from £44 to £86, or nearly 100 per cent[7] But without pinning our faith to any particular estimate, we can see clearly enough that the facts disprove Ricardo's proposition that no improvement is possible, and there are not wanting some who think that the whole tendency of modern society is towards an increasing equality of condition

Was Ricardo any more correct in saying that interest and profits (between which he never clearly distinguished) must fall? As a matter of fact, for the last century and a half interest in England has been almost stationary, except during the great war. In Walpole's time it was three per cent, during the war it doubled, but after the peace it dropped to four per cent, and has remained pretty steady at that rate ever since Ricardo thought that the cost of the labourer's subsistence would necessarily increase, owing to the necessity of cultivating more land, and as he would thus require a greater share of the gross produce, less wealth would be left for the capitalist He overlooked the fact that the rate of interest depends not merely on the cost of labour, but on the field of employment as well As civilisation advances, new inventions and new enterprises create a fresh demand for capital some £700,000,000 have been invested in English railways alone No doubt, if the field for English capital were confined to England, the rate of interest might fall, but Ricardo forgot the possibility of capital emigrating on a large scale Thus Ricardo's teaching on this point is deficient both in abstract theory and as tested by facts What we really find to have taken place is, that though rent has risen,

there is good reason to suppose that in the future it may fall, that interest has not fallen much, and that the standard of comfort and the rate of wages, both of artisans and labourers—of the former most decidedly, and to a certain extent also of the latter, has risen

I wish next to examine Mr George's theory of economic progress.[8] Mr. George is a disciple of Ricardo, both in his method and his conclusions, he has as great a contempt for facts and verification as Ricardo himself[9] By this method he succeeds in formulating a law, according to which, in the progress of civilisation, interest and wages will fall together, and rents will rise Not only is the labourer in a hopeless condition, but the capitalist is equally doomed to a stationary or declining fortune 'Rent,' he says, 'depends upon the margin of cultivation, rising as it falls, and falling as it rises. Interest and wages depend on the margin of cultivation, falling as it falls, and rising as it rises'[10] The returns which the capitalist obtains for his capital and the labourer for his work depend on the returns from the worst land cultivated, that is, on the quality of land accessible to capital and labour without payment of rent

Now Mr. George's observations are derived from America, and what he has done is to generalise a theory, which is true of some parts of America, but not of old countries. His book seems conclusive enough at first sight There is little flaw in the reasoning, if we grant the premisses, but there are great flaws in the results when tested by facts Do interest and wages always rise and fall together? As an historical fact they do not Between 1715 and 1760, while rents (according to Professor Rogers) rose but slowly (Arthur Young denies that they rose at all), interest fell, and wages rose Between 1790 and 1815 rent doubled, interest doubled, wages fell Between 1846 and 1882 rents have risen, interest has been stationary, wages have risen. Thus in all these three periods the facts contradict Mr George's theory Rent indeed has generally risen, but neither profits nor wages have steadily fallen, nor have their variations borne any constant relation to one another Coming to Mr George's main position, that rent constantly tends to absorb the whole increase of na-

tional wealth, how does this look in the light of fact? Does all the increase of wealth, for instance, in the Lancashire cotton manufactures, go simply to raise rents? Evidently not. Wages have risen owing to improvements in machinery, and in most cases profits have also risen. We can prove by statistics that in England the capitalists' wealth has increased faster than that of the landowners', for in the assessments to the income-tax there has been a greater increase under Schedule D, which comprises the profits of capitalists and the earnings of professional men, than under Schedule A, which comprises revenues from land. At the same time, Mr. George has made out a strong case against private property in land in great towns, but here he has only restated more forcibly what Adam Smith and Mill advocated, when they recommended taxes on ground rents as the least objectionable of all taxes. Under existing conditions the working people in great towns may be said to be taxed in the worst of ways by the bad condition of their houses. An individual or a corporation lets a block of buildings for a term of years, the lessee sublets it, and the sub-lessee again for the third time. Each class is here oppressing the one beneath it, and the lowest unit suffers most. This is why the problem of the distribution of wealth is sure, in the near future, to take the form of the question, how to house the labourers of our towns.

XIV THE FUTURE OF THE WORKING CLASSES

I HAVE thus far tried to show that the material condition of the workman is capable of improvement under present social conditions I wish now to explain the causes which have contributed to its actual improvement since 1846. The most prominent of these causes has been Free Trade In the first place, Free Trade has enormously increased the aggregate wealth of the country, and therefore increased the demand for labour, this is an indisputable fact Secondly, it has created greater steadiness in trade,—a point which is often overlooked in discussions of the subject Since 1846 workmen have been more regularly employed than in the preceding half-century Free trade in wheat has, moreover, given us a more steady price of bread, a point of paramount importance to the labouring man, and this steadiness is continually becoming greater. From 1850 to 1860 the variation between the highest and lowest prices of wheat was 36s, between 1860 and 1870 it was 24s, and in the last decade it has been only 15s And since the sum which the workman has spent on bread has become more and more constant, the amount which he has had left to spend on manufactured produce has also varied less, and its price in consequence has been steadier But why then, it may be asked, the late great depression of trade since 1877? I believe the answer is, because other countries, to which we sell our goods, have been suffering from bad harvests, and have had less capacity for buying The weavers in Lancashire have had to work less time and at lower wages because far-off nations have not been able to purchase cotton goods, and the depression in one industry has spread to other branches of trade

The greater steadiness of wages which has been caused by Free Trade is seen even in trades where there has been no great

rise But besides the amount of the workman's wages per day we must take into consideration the number of days in the year and hours in the day, during which he works He now finds employment on many more days (before 1846 artisans often worked only one or two days in the week), but each working day has fewer hours, so that his pay is at once steadier and more easily earned And hence even where his daily wages have remained nearly the same, with more constant employment and with bread both cheap and fixed in price, his general position has improved

What other agencies besides Free Trade have been at work to bring about this improvement? Factory legislation has raised the condition of women and children by imposing a limit on the hours of work, and especially the sanitary environment of the labourer, the factory laws seek to regulate the whole life of the workshop Trades-Unions, again, have done much to avert social and industrial disorder, and have taught workmen, by organisation and self-help, to rely upon themselves. Herein lies the difference between the English and the Continental workman, the former, because he has been free from voluntary associations, does not look to the State or to revolutionary measures to better his position For proof of this, it is enough to compare the parliamentary programme of the last Trades-Unions Congress with the proceedings of the International at Geneva English Trades-Unions resort to a constitutional agitation which involves no danger to the State, indeed, as I have said, their action averts violent industrial dislocations And beyond this, Trades-Unions have achieved some positive successes for the cause of labour By means of their accumulated funds workmen have been able to hold out for better prices for their labour, and the Unions have further acted as provident societies by means of which their members can lay up sums against sickness or old age The mischief and wastefulness of strikes is generally enough insisted on, but it is not as often remembered that the largest Unions have sanctioned the fewest strikes; the Amalgamated Engineers, who have 16,000 members, and branches in Canada and India, expended only six per cent of their income on strikes from 1867 to 1877 The leaders of such a great Union are skilful, well-

informed men, who know it to be in their interest to avoid strikes.[1]

Lastly, we must not forget to mention the great Co-operative Societies, which in their modern shape date from the Rochdale Pioneers' Store, founded in 1844, under the inspiration of Robert Owen's teaching, though the details of his plan were therein abandoned These, like Trades-Unions, have taught the power and merit of voluntary association and self-help. At present, however, they are only big shops for the sale of retail goods, through which the workman gets rid of the retail dealer, and shares himself in the profits of the business, by receiving at the end of each quarter a dividend on his purchases Such stores, however useful in cheapening goods, and at the same time encouraging thrift, do not represent the ultimate object of co-operation That object is to make the workman his own employer. Hitherto the movement has not been successful in establishing productive societies, the two great difficulties in the way being apparently the inability of a committee of workmen to manage a business well, and their unwillingness to pay sufficiently high wages for superintendence The chief obstacles are thus moral, and to be found in the character of the workmen, and their want of education, but as their character and education improve, there is no reason why these difficulties should not vanish

Such are the chief agencies to which we trace the improvement in the position of the labourer during the last forty years At the beginning of this period Mill insisted on one thing as of paramount importance, namely restriction upon the increase of population, and without this he believed all improvement to be impossible. Yet we find that during this period the rate of increase has not slackened It is nearly as great now as between 1831 and 1841. It was greater during the last decade than it had been since 1841 On the other hand, there has undoubtedly been an enormous emigration which has lightened the supply of labour Three millions and a half of people have emigrated from Great Britain since 1846.

The question which now most deeply concerns us is, Will the same causes operate in the future? Will Free Trade continue to

be beneficial? Will our wealth continue to increase and our trade to expand? On this point a decided prediction is of course impossible Competition in neutral markets is becoming keener and keener, and we may be driven out of some of them, and thus the national aggregate of wealth be lessened. But, on the other hand, we have reason to believe that increased supplies of corn from America and Australia will give an enormous impetus to trade As in the past so in the future corn is the commodity of most importance to the labourer, and if the supply of corn becomes more constant, trade will be steadier and wages will probably rise Besides, cheap corn means that all over the world the purchasing power of consumers is increased, and this again will stimulate trade. So that in this respect the labourers' outlook is a hopeful one As to emigration also, there is no reason to suppose that there will be any check on this relief to the labourer for the next fifty years at least Again, there is every prospect of co-operation and even productive co-operation making great progress in the future, though I do not think that the latter is likely for some time to be an important factor in improving the status of the workmen. The moral obstacles to co-operative production which I mentioned will disappear but slowly. In certain directions, however, it is likely to develop, I mean in the direction of manufacturing for the great Wholesale Co-operative Societies, because here the market is secured Trades-Unions too are likely to expand.

Turning to the moral condition of the workpeople, we find an improvement greater even than their material progress When we see or read of what goes on in the streets of our great towns, we think badly enough of their morality, but those who have had most experience in manufacturing districts are of opinion that the moral advance, as manifested, for example, in temperance, in orderly behaviour, in personal appearance, in dress, has been very great. For the improvement in the inner life of workshops as early as 1834, take the evidence of Francis Place, a friend of James Mill, before a Committee of the House of Commons in that year He told the Committee that, when he was a boy, he used to hear songs, such as he could not repeat, sung in re-

spectable shops by respectable people; it was so no longer, and he was at a loss how to account for the change[2] Similar statements are made by workmen at the present day. Conversation, they say, is bad at times, but opinion is setting more and more against immoral talk. The number of subjects which interest workpeople is much greater than before, and the discussion of the newspaper is supplanting the old foul language of the workshop. We have here an indirect effect of the extension of the suffrage Add to this the statistics of drunkenness In 1855 there were nearly 20,000 persons convicted for drunkenness, in 1880 there were not many more than 11,000.

Again, the relations between workmen and employers are certainly much better The old life, as described by Owen and Cobbett, of an apprentice in the workshop, or a boarded labourer in the farmhouse, is at first sight most attractive; and the facts told to the Commission of 1806 seem to realise the ideal life of industry. The relations between masters and workmen were then extremely close, but this close relationship had its bad side. There was often great brutality and gross vice. The workman was at his employer's mercy in Norfolk the farmer used to horsewhip his labouring men, and his wife the women[3] There existed a state of feudal dependence, which, like all feudalism, had its dark and light sides. The close relationship was distinctly the result of the small system of industry, and hence it was shattered by the power-loom and the steam-engine. When huge factories were established there could no longer be a close tie between the master and his men; the workman hated his employer, and the employer looked on his workmen simply as hands. From 1800 to 1843 their mutual relations, as was admitted by both parties, were as bad as they could be. There could be no union, said employers, between classes whose interests were different, and farmers, contrary to ancient usage, ruthlessly turned off their men when work was slack. The 'cash nexus' had come in, to protest against which Carlyle wrote his *Past and Present*, but Carlyle was wrong in supposing that the old conditions of labour could be re-established Feudalism, though it lingers in a few country places, has virtually disap-

peared alike in agriculture and in trade. The employer cannot offer and the workman cannot accept the old relations of protection and dependence: for, owing to the modern necessity of the constant movement of labour from place to place and from one employment to another, it has become impossible to form lasting relations, and the essence of the old system lay in the permanency of the workmen's engagements. Trades-Unions too have done much to sever what was left of the old ties. Workmen are now obliged, in self-defence, to act in bodies. In every workshop there are men who are attached to their masters, and who on occasion of a strike do not care to come out, but are yet compelled to do so in the common interest. Before this obligation was recognised by public opinion, the effect of Unions was, no doubt, to embitter the relations between masters and men. This was especially the case between 1840 and 1860.

Since the latter date, however, Trades-Unions have distinctly improved the relations between the two classes. Employers are beginning to recognise the necessity of them, and the advantages of being able to treat with a whole body of workmen through their most intelligent members. Boards of Conciliation, in which workmen and employers sit side by side, would be impossible without Unions to enforce obedience to their decisions. In the north of England, at the present moment, it is the non-unionists who are rejecting arbitration. And the reason why such Boards have succeeded is, because the employers have of their own accord abandoned all ideas of the feudal relation. They used to say that it would degrade them to sit at the same board with their workmen, but it is noticeable that directly the political independence of the latter was recognised, as soon as he possessed the franchise, these objections began to disappear. The new union of employers and workmen which is springing up in this way, is based on the independence of both as citizens of a free state. The employers meet their workmen also in political committees, on School Boards and similar bodies, and the two classes are learning to respect one another. Thus this new union bids fair to be stronger than the old one.

Still the question remains, Can this political independence of

the workman be combined with secure material independence? Until this is done he will be always at the mercy of his employer, who may practically stultify his political power by influencing his vote, as Mr. George asserts is done in New England[4] Among the many solutions of this problem proposed in our own country two deserve especial prominence The first is that of the English Positivists Comte, although he had but a glimpse of the English Trades-Unions, understood the meaning of them far better than Mill. Inspired by him, Mr. Frederic Harrison and his friends deny the possibility of solving the labour question by co operative production or any such schemes. They rely on a gradual change in the moral nature of capitalists, not that they expect the old system of feudal protection to return, but they hope that the 'captains of industry' of the future will rise to another conception of their position, will recognise the independence of the workman, and at the same time be willing to hand over to him an increased share of their joint produce This belief may seem ridiculous, and we must expect for a long time yet to see capitalists still striving to obtain the highest possible profits But observe, that the passion for wealth is certainly in some senses new It grew up very rapidly at the beginning of the present century, it was not so strong in the last century, when men were much more content to lead a quiet easy life of leisure The change has really influenced the relations between men, but in the future it is quite possible that the scramble for wealth may grow less intense, and a change in the opposite direction take place The Comtists are right when they say that men's moral ideas are not fixed. The attitude of public opinion towards slavery was completely changed in twenty or thirty years Still I am obliged to believe that such a moral revolution as the Comtists hope for is not possible within a reasonable space of time

I should have more hope of Industrial Partnership as elaborately described by Mr Sedley Taylor[5] This also implies a certain change in the moral nature of the employers, but one not so great as the alternative system would require It has been adopted in over a hundred Continental workshops, though the

experiment of Messrs. Briggs in England ended in failure. There is hope of its being more successful in the future, because by promoting the energy of the workmen and diminishing waste, it coincides with the interest of the employer. I think that in some industries it will extend, but that it will not be generally adopted.

There remains the ordinary Communist solution This has taken various forms, the simplest being a voluntary association of individuals based on the principle of common property, and in which every person works for the community according to fixed rules. There are many successful instances of this, on a small scale, in the United States,[6] but we cannot suppose such a solution to be possible for society as a whole It has only been tried with picked materials, whereas our object is rather to improve the great mass of the population. The Communism of recent European theorists, of whom the best known is Lassalle, presents a somewhat different aspect[7] It aims at the appropriation of all instruments of production by the State, which is to take charge of the whole national industry and direct it But the practical difficulty of such a scheme is obviously overwhelming

The objections to a Communistic solution do not apply to Socialism in a more modified shape. Historically speaking, Socialism has already shown itself in England in the extension of State interference It has produced the Factory Laws, and it is now beginning to advance further and interfere directly in the division of produce between the workmen and their employers The Employers' Liability Act recognises that workmen, even when associated in Trades-Unions, cannot without other aid secure full justice, and in the name of justice it has distinctly handed over to the workmen a certain portion of the employers' wealth. The extension of regulative interference however, though it is to be expected in one or two directions, is not likely to be of much further importance. With regard to taxation, on the other hand, Socialist principles will probably attain a wide-reaching application, and here we shall see great changes

The readjustment of taxation would enable the State to supply for the people many things which they cannot supply for

themselves. Without assuming the charge of every kind of production, the State might take into its hands such businesses of vital importance as railways, or the supply of gas and water. And should not the State attempt in the future to grapple with such questions as the housing of the labourers? Municipalities might be empowered to buy ground and let it for building purposes below the full competition market value. I think that such a scheme is practicable without demoralising the people, and it would attack a problem which has hitherto baffled every form of private enterprise, for all the Societies put together, which have been formed in London with this object since 1842, have succeeded in housing only 60,000 persons. And this brings up the whole question of public expenditure for the people. A new form of association, which has become common of late years, is that of a certain number of private individuals combining to provide for some want of the public, such as Coffee Taverns, or Artisans' Dwellings, or cheap music. Such Societies are founded primarily with philanthropic objects, but they also aim at a fair interest on their capital. Might not municipalities seek in a similar way to provide for the poor? In discussing all such schemes, however, we must remember that the real problem is not how to produce some improvement in the condition of the working man—for that has to a certain extent been attained already—but how to secure his complete material independence.

Notes

1. INTRODUCTORY

[1] The sequel, as readers will observe, realises very imperfectly the plan here sketched out by Toynbee, and especially fails to deal with those portions of the scheme which are described in the words printed in italics This is due partly to the fact that Toynbee himself found his subject, as he first conceived it, too large to be dealt with in a single course of lectures, and partly to the imperfection of even the best notes taken by his hearers, especially on the more difficult and abstruse, and in particular the purely financial and monetary, topics discussed by him —ED

[2] The owners of properties over 3000 acres, and yielding a rental of at least £3000 are 2512, they own in

England and Wales	14,287,373	acres out of	34,344,226
Scotland	14,118,164	"	18,986,694
Ireland	9,120,689	"	20,316,129

—Bateman's *Great Landowners*

[3] *Confiscation or Contract?* (Dublin, 1880), p 23

[4] Richey, *The Irish Land-Laws,* p 108

[5] Comte was one of the first to recognise this truth, and it was from him that Mill learned that 'the deductive science of society will not lay down a theorem asserting in an universal manner the effect of any cause, but will rather teach us how to frame the proper theorem for the circumstances of any given case It will not give the laws of society in general, but the means of determining the phenomena of any given society from the particular elements or data of that society'—*System of Logic,* bk vi c 9, § 2

[6] As, for instance, to check the exhaustion of our coal supplies —*The Coal Question,* 247 354

[7] Toynbee was addressing an audience principally composed of men studying for the History Schools —ED

2 ENGLAND IN 1760· POPULATION

[1] Mr Thornton, member for the City of York, said 'I did not believe that there was any set of men, or indeed any individual of the human species, so presumptuous and so abandoned as to make the proposal we have just heard I hold this project to be totally subversive of the last remains of English liberty The new bill will direct the imposition of new taxes, and indeed the addition of a very few words will make it the most effective engine of rapacity and oppression which was ever used against an injured people Moreover, an annual register of our people will acquaint our enemies abroad with our weakness'—*Vide Preface to Preliminary Census Returns,* 1881, p 1 The Bill was carried in the Commons by large majorities, but thrown out on second reading by the Lords

[2] *An Essay on the Population of England from the Revolution to the Present Time,* by Richard Price, D D , F R S (London, 1780)

[3] *An Examination of Dr Price's Essay on the Population of England and*

Wales, by Rev John Howlett (1781) See M'Culloch's *Literature of Political Economy*, p 258

[4] *Northern Tour*, iv. 419 (2nd edition, 1771).

[5] Porter's *Progress of the Nation*, p 5 (2nd edition, 1847)

[6] *Ibid*, p. 13

[7] Slightly different calculations are made by Mr Rickman (*Introductory Remarks to Census Returns of* 1841, pp 36, 37), and Mr. Marshall in his *Geographical and Statistic Display* (1833), p 22 The former gives the population in 1700 at 6,045,008, and in 1750 at 6,517,035, being an increase of nearly 8 per cent., the latter gives 5,475,000 and 6,467,000 for the two dates, or an increase of 18.1 per cent Gregory King, in 1696, estimates, from 'the assessments on marriages, births, and burials,' the population at 5,500,000

[8] Mr Rickman gives the rate of increase at 41 per cent., and Mr. Marshall at 42 per cent

[9] iii 57 (7th edition, 1769)

[10] 1,285,300 out of 5,108,500

[11] 1,710,000 out of 6,017,700 These are Marshall's estimates, they differ a little from those of Mr Finlaison

[12] 10,438,705 out of 24,608,391

[13] In 1700, 902,100 out of 5,101,500, in 1750, 1,261,500 out of 6,017,700; in 1881, 7,906,760 out of 24,608,391

[14] J Marshall *A Geographical and Statistical Display*, etc (1833), p 12; printed also at the end of his *Analysis of Returns made to Parliament*, 1835

[15] *Natural and Political Observations upon the State and Condition of England*, by Gregory King, Lancashire Herald, 1696 (printed in Chalmers's *Estimate*, 1804), p 36

[16] *Southern Tour*, p 326 (2nd edition, 1769)

[17] *Travels in France* (2nd edition), i 480 He contrasts it with France, where 'less than one fourth of the people inhabits towns' His estimate is, however, in all probability exaggerated

[18] Census Returns See Preliminary Report, p vii.

[19] Eden's *State of the Poor*, i 228, and Chalmers's *Estimate* (1804), p. 203

[20] *Northern Tour*, iv 417-19, cf also 364

3 ENGLAND IN 1760· AGRICULTURE

[1] P 52 (ed Chalmers, 1804)

[2] Edward Laurence, *Duty of a Steward to his Lord* London, 1727

[3] *Northern Tour*, iv 340 41 See also *Eastern Tour*, iv 455-56, for a somewhat different estimate

[4] Shaw Lefevre, *Essays on English and Irish Land Question*, p 199

[5] Maine's *Village Communities*, p 89

[6] A Young, *Southern Tour* (3rd ed, 1772), p. 384 See also *Northern Tour*, i 160 62, where he compares the yields of open and enclosed lands at Risby and the neighbourhood as follows —

	Open land	*Enclosed*
Wheat	17 18 bushels per acre	26
Barley	36 "	40
Oats	32 "	44
Bean	28 "	32

See also *View of the Agriculture of Oxfordshire*, by A Young (1809), p. 100, Clifford's *Agricultural Lockout in* 1874, p 121 *n*, and Laurence's *Duty of a Steward*, p 37 8 The latter gives the following preamble for a form of agreement for enclosure —'Whereas it is found by long experience that common or

open fields, wherever they are suffered or continued, are great hindrances to a public good, and the honest improvement which every one might make of his own by diligence and a seasonable charge, and whereas all or most the inconveniences and misfortunes which usually attend the open wastes and common fields have been fatally experienced at ——, to the great dis couragement of industry and good husbandry in the Freeholders, viz that the poor take their advantage to pilfer and steal and trespass, that the corn is subject to be spoiled by cattle, that stray out of the common and highways adjacent, that the tenants, or owners, if they would secure the fruits of their labours to themselves, are obliged either to keep exact time in sowing and reaping or else to be subject to the damage and inconvenience that must attend the lazy practices of those who sow unseasonably, suffering their corn to stand to the beginning of winter, thereby hindering the whole parish from eating the herbage of the common field till the frosts have spoiled the most of it For these reasons,' etc etc

[7] A Young, *Northern Tour*, iv 190

[8] *View of the Agriculture of Oxfordshire*, p 100

[9] *View of the Agriculture of Oxfordshire*, p 239

[10] Nasse's *Agricultural Community of the Middle Ages*, p 85

[11] Cf Tusser, William Stafford, and Holinshed, quoted by Nasse.

[12] Seven of them were for the enclosure of common fields and waste, five for waste alone

[13] *Eastern Tour*, iii 108 9. The italics are Arthur Young's

[14] *Northern Tour*, i 292.

[15] *Ib*, 283 Other novelties introduced by him were improved drains, laying down of pastures level, instead of ridge and furrow, and improved machines and manuring He kept upwards of 2000 acres in his own hands, on which he experimented, but found great difficulty in inducing 'the good common farmers' to imitate his husbandry

[16] *Northern Tour*, i 215-221

[17] *Northern Tour*, iii 91

[18] 'All these doth enclosures bring,
Experience teacheth no less,
I speak not to boast of the thing,
But only a truth to express
Example, if doubt ye do make,
By Suffolk and Essex go take'

[19] See Houghton's *Collections in Husbandry and Trade*, quoted in *Ency Brit* sub 'Agriculture'

[20] *Eastern Tour*, ii 150

[21] *Ibid*, ii 152

[22] 'It is a custom growing pretty common,' he says, 'in several parts of the kingdom to grant no leases Had the Norfolk landlords conducted themselves on such narrow principles, their estates, which are raised five, six, and ten fold, would yet have been sheep walks'—*Eastern Tour*, ii 160, 161

[23] *Ib*

[24] *Ib* Caird, however, asserts that 'the present pre-eminence of the county in improved husbandry is due alone to the celebrated Coke of Norfolk, the late Earl of Leicester'—*English Agriculture in* 1850, p 163

[25] *Northern Tour*, i 282

[26] *Southern Tour*, pp 280, 281

[27] Eden's *State of the Poor* (1797), i 334 Tooke thought that Eden's estimate was rather too high—*High and Low Prices* (1823), p 184

[28] *Ency Brit*—'Agriculture', *Northern Tour*, ii 127, *Eastern Tour*, i. 111.

[29] *Pamphlet by a Woollen Manufacturer of Northampton*, in Smith's *Memoirs of Wool*, ii 320 The woollen manufacturers complained that enclosures lessened the number of sheep, but Young denies this—*Eastern Tour*, ii 5

[30] An old Norfolk shepherd, who was drawn for the Militia in 1811 (when

he was probably about eighteen years old), described how the sheep lived when he was a boy —'As for the sheep, they hadn't such food provided for them as they have now In winter there was little to eat, except what God Almighty sent for them, and when the snow was thick on the ground, they ate the ling, or died off Sheep were not of much account then I have known lambs sold at 1s 6d apiece'—Clifford's *Agricultural Lockout*, p 266

[31] 'The plough in many parts of England differs but little from the description we have of the Roman plough Agricultural machinery has of all others received the least improvement'—Eden, i 412 *n*

[32] *Northern Tour*, ii 80 83

[33] For Tull see *Encyclopædia Britannica*—'Agriculture,' Rev Mr Smith's *Word in Season*, and Day's Lecture before the Royal Agricultural Society

[34] *Rural Economy* (1770), p 315

[35] *Annals of Commerce*, iii 147 According to Defoe agriculture had much improved in the north Davenant, in 1698, speaks of the great improvement since 1666, *Works* (Whitworth's edition, 1771), i 359 See also Rogers, Notes to Adam Smith, ii 81

[36] *Duty of a Steward*, p 2

[37] *Travels in France*, i 354. The average yield in England now is 28 bushels, but of course we raise part of our present crops from a non-natural soil.

4 ENGLAND IN 1760· MANUFACTURES AND TRADE

[1] Baines's *History of the Cotton Manufacture* (1835), p 112

[2] Macpherson's *Annals of Commerce* (1805), iii 506 That book, together with the *Gazetteer* of the same author, has been largely drawn from in this account of the woollen industry

[3] 9 H iii c 27 Coke's comment is—'True it is that broad cloths were made, though in small number, at this time and long before it' See Smith, *Memoirs of Wool* (1747), i 17

[4] Defoe's *Tour* (7th edition, 1769), ii 19

[5] *Ibid*, ii 26, 37, 38

[6] Defoe's *Tour*, i 94

[7] *Eastern Tour*, ii 74, 75

[8] Smith, *Memoirs of Wool*, ii 542, 543, 1st edition, London, 1747 Adam Smith, *Wealth of Nations*, book iv ch viii (ii 525)

[9] *Eastern Tour*, loc cit

[10] Scrivenor's *History of the Iron Trade* (1841), p 57

[11] *Northern Tour*, iii 9-11

[12] Scrivenor's *History of the Iron Trade*, p 121

[13] Smiles's *Industrial Biography*, pp 82, 136

[14] Scrivenor, pp 57, 71

[15] Anderson, *On Commerce*, iii 144

[16] *Southern Tour*, p 141 (2nd edition, 1769)

[17] Felkin's *History of the Hosiery and Lace Manufacture* (1867), p 76

[18] Defoe's *Tour*, ii 397, iii 73 The Derby mill was unique of its kind

[19] *Northern Tour*, i 124, iii 135

[20] Defoe's *Tour*, ii 421

[21] *British Merchant*, quoted in Smith's *Memoirs of Wool*

[22] Anderson, iii 252

[23] Fox Bourne's *Romance of Trade*, p 183

[24] Baines's *History of the Cotton Manufacture*, p 115

[25] In 1719 'all the mean people, the maid servants, and indifferently poor persons, who would otherwise clothe themselves, and were usually clothed,

in thin women's stuffs made at Norwich and London, are now clothed in calico or printed linen '—Pamphlet in Smith's *Memoirs*, ii 195.

[26] Defoe's *Tour*, iii 144 6

[27] *Northern Tour*, i 124, ii 6, 427 See Smith's *Memoirs*, ii 313

[28] Felkin's *History of Hosiery*, etc, p 83

[29] Timmins's *Resources, Products, etc, of Birmingham* (1866), pp 110, 111

[30] Baines, p 115 Ure's *Cotton Manufacture* (1836), i 192, 193 The weaver would walk three or four miles in a morning, and call on many spinners before he could get work enough for the day —Compare Young's *Northern Tour*, iii 189

[31] Baines, p 104 *n*

[32] Defoe's *Tour*, iii 124-126

[33] Near Chesterton, in Cambridgeshire

[34] Defoe's *Tour*, i 91-96

[35] *Ibid*, iii 16, 17

[36] Defoe's *Tour*, iii 126

[37] Timmins, p 241

[38] *Letter on a Regicide Peace*, Burke's *Works* (Bohn's edition), v 197

[39] *Northern Tour*, iii 135

[40] Defoe's *Tour*, i 61, 40,000 were fed in Norfolk every year

[41] *The Doctor*, c iv

[42] *Prose Works*, ii 262, 263

[43] 'Le paysan qui fait avec ses enfants tout l'ouvrage de son petit héritage, qui ne paie de fermage à personne au dessus de lui, ni de salaire à personne au dessous, qui règle sa production sur sa consommation, qui mange son propre blé, boit son propre vin, se revêt de son chanvre et de ses laines, se soucie peu de connaître les prix du marché, car il a peu à vendre et peu à acheter '—Sismondi, *Économie Politique*, Essai iii But see Young's *Northern Tour*, iii 189

[44] In 1719 it is first asserted that 'the grand cause of the weavers wanting work is the covetousness of both masters and journeymen in taking so many prentices for the sake of the money they have with them, not considering whether they shall have employment for them or not' In 1737 we find a writer lamenting that the factors 'set up people to act as master clothiers, on their stock, during any little glut of business,' to the great disadvantage of those who 'employ the poor in good and bad times alike' 'And hence more people are admitted into trade than the trade can possibly maintain, which opens a new door to the tumults and riots so lately felt' —Smith's *Memoirs*, ii 186, 313

[45] The *British Merchant* calculated that the export trade was one sixth of the home-trade, or £7,000,000 —Smith's *Memoirs*, ii 112 Burke possessed a MS of Davenant, which gave the exports in 1703 at £6,552,019 —*Works* i 221

[46] *Northern Tour*, iii 194

[47] Burke's *Works*, i 278

[48] The capacity of British shipping in 1762 was nearly 560,000 tons —*Ib*, i 201

5. ENGLAND IN 1760 THE DECAY OF THE YEOMANRY

[1] Macaulay, following Davenant, thinks this too high, and puts them at 160,000 —*History of England*, c iii

[2] *Tour*, i pp 159, 160 At election times 1400 or 1500 would troop into Maidstone to give their votes

[3] Part I book III p 176, ed 1737

[4] *Le Capital* (French translation), p. 319

[5] Kenny's *History of Primogeniture* (1878), p 52

[6] Howlett in Young's *General View of the Agriculture of Essex* (1807), I 40, *View of the Agriculture of Oxfordshire* (1809), p 16

[7] 'The major part of the lands of the district are the property, and in general are in the occupation, of yeomanry, a circumstance this which it would be difficult to equal in so large a district. The township of Pickering is a singular instance It contains about 300 freeholders, principally occupying their own small estates, many of which have fallen down by lineal descent from the original purchasers No great man, nor scarcely an esquire, has yet been able to get a footing in the parish, or, if any one has, the custom of portioning younger sons and daughters by a division of lands has reduced to its original atoms the estates which may have been accumulated.' —Marshall's *Rural Economy of Yorkshire* (1788), i 20

[8] *Inquiry into the present Price of Provisions and the Size of Farms* (1773), pp. 126, 139 *et seq*

[9] *Travels in France* (Dublin edition, 1793), I 86, II 262.

[10] See extracts from Howlett, referred to above

[11] Thrale, the brewer, father of Johnson's friend, was one of the exceptions He was Member for Southwark and High Sheriff of Surrey in 1733. He died in 1758—Boswell's *Life of Johnson* (7th edition), II 106, 107

[12] *Ibid*, p 108 *n*

[13] Defoe's *Complete Tradesman* (ed Chambers, 1839), p 74

[14] Temple's *Miscellanies*, quoted in Lecky's *History of England*, i 193, 194

[15] Defoe's *Tradesman*, loc cit

[16] Laurence's *Duty of a Steward* (1727), p 36

[17] Marshall's *Yorkshire*, p 54

[18] *Spectator*, No 122

[19] *Travels in France* (Dublin ed. 1793), II. 262 *Rural Economy, Essays* 3 and 4

[20] *View of the Agriculture of Oxfordshire*, p 269 Cf Howlett, I 65 'his understanding and his conversation are not at all superior to those of the common labourers, if even equal to them.'

[21] See Wordsworth's *Guide to the Lakes*, p 268

[22] See Wordsworth's story of the freeholder and his tree, in Harriet Martineau's *Autobiography*, II. 233.

[23] Baines, pp 262, 263

6. ENGLAND IN 1760· THE CONDITION OF THE WAGE-EARNERS

[1] Nicholls, *History of the Poor Laws* (1854), II 54, 55, quoting from Arthur Young

[2] *Wealth of Nations*, book I ch XI (vol I 211)

[3] *Wealth of Nations*, book I ch VIII (vol I 82)

[4] Harte's *Essays on Husbandry*, pp 176, 177, quoted by A Young, *Farmer's Letters* (3rd edition, 1771), I 207, 208 In the north, rye and barley bread alone were still consumed [Wheaten bread was certainly unknown among the Norfolk labourers at the beginning of this century]

[5] *Ibid*, pp 200, 297 Much of the tea was very bad, and smuggled A family at Epsom made a quarter of a pound last them for a fortnight—Eden, III 710 Still the imports had increased enormously, from 141,995 lbs. in 1711, to 2,515,875 lbs in 1759-1760—Nicholls, II. 59

[6] *Travels in France* (Dublin edition, 1793), ii 313.
[7] Chamberlayne, *State of Great Britain* (1737), p 177. He says that 'the meanest mechanics and husbandmen want not silver spoons and some silver cups in their houses'
[8] *Farmer's Letters*, i 203-205; *cf.* also Howlett, quoted in Eden's *State of the Poor*, i 384-385
[9] Eden, i 478
[10] *Farmer's Letters*, i 205
[11] *Ibid*, i 301
[12] Caird, *English Agriculture*, p 513
[13] Young's *Northern Tour*, i 172, Eden, i 329
[14] Young's *Eastern Tour*, iv 312-313
[15] *Wealth of Nations*, book i ch x (vol i 104)
[16] See Heath's *Peasant Life in the West*, p 94, and Clifford's *Agricultural Lockout in* 1874.
[17] *Wealth of Nations*, book i. ch viii (vol i 79)
[18] Baines, p 361

7. THE MERCANTILE SYSTEM AND ADAM SMITH

[1] 5 Eliz, c 4
[2] *On Trade*, p 131 (ed 1692).
[3] *Wealth of Nations*, book i ch x pt ii (vol i 125)
[4] The maintenance of restrictions in the chartered towns was largely due to the fact that the dissenters, who, perhaps, comprised the richest of the commercial classes, were legally altogether, and in practice to a considerable degree, excluded from office in the chartered towns
[5] *State of the Poor*, i 436, 437
[6] *Wealth of Nations*, book v ch i pt iii sec i (vol ii 317, *et seq.*)
[7] *Wealth of Nations*, vol ii 326, 329
[8] *Ibid*, p 331
[9] *Wealth of Nations*, book iv. ch ii (vol ii 38), Mill's *Principles* (first edition), book v ch x (vol ii 485)
[10] There had been earlier Navigation Acts, of more or less stringency, from the time of Henry vii onwards
[11] Anderson, ii 443-4, *Wealth of Nations*, book iv ch vii (vol ii. 179), Child *On Trade*, p 93 (ed 1692), *Britannia Languens* (1680), 66, Richardson (1750), 52
[12] Child, p 98 (ed 1692)
[13] Anderson, ii 416
[14] *Wealth of Nations*, loc cit
[15] Payne's *History of the Colonies*, 78
[16] Mill's *Principles of Political Economy*, i ch 8, § 2, p 141
[17] *Wealth of Nations*, bk i ch x, bk iv ch iii (vol i 134, ii 34, 68).
[18] In the *True Representation of the Manufacture of the Combing and Spinning of Wool* (Bib Bodl n d), the author remarks that the importation of Indian yarn 'will hinder the consumption of great quantities of wool, by which the gentlemen's tenants, whose lands are used in the growth of wool, will be necessitated to sell their wool for a low price'
[19] Scrivenor, pp 73-4.
[20] Anderson, vol ii. p 507
[21] *Wealth of Nations*, bk iv ch. vii pt iii (vol ii p 196)
[22] On the whole subject see H Spencer's Essays on *Specialised Administration and the Social Organism*, and Professor Huxley's Essay on *Administrative Nihilism*.

8 THE CHIEF FEATURES OF THE REVOLUTION

[1] Vol i bk ii ch v p 377

[2] Inability to see this fact is the source of the Protectionist fallacy

[3] 'In the cotton trade,' said Sir R Peel in 1806, 'machinery has given birth to a new population; it has promoted the comforts of the population to such a degree that early marriages have been resorted to, and a great increase of numbers has been occasioned by it, and I may say that they have given rise to an additional race of men'—Parl Report, p 440

[4] See Jevons on *The Coal Question*, p 109, Census Returns for 1881, pp iii, xi

[5] Porter's *Progress of the Nation* (2nd edition, 1847), p 52

[6] Porter, pp. 61, 65 Kolb's *Condition of Nations*, translated by Mrs Brewer, p 73

[7] *Duty of a Steward*, pp 3, 4

[8] *State of the Poor*, ii pp 147 8 Cf also p 621

[9] *Rural Rides*, ed 1830, p 579

[10] Kebbel's *Agricultural Labourer*, pp 207-8

[11] The North and West of England in 1777, the Highland Society in 1784, the Board of Agriculture in 1793

[12] Committee on the Corn Trade (1813) See Porter, p 149

[13] Baines, *passim*

[14] In 1813 there were only 2400 in use in 1820 there were 14,150, and in 1833, over 100,000 Baines, pp 235-7

[15] Radcliffe, quoted by Baines, pp 338 9

[16] Scrivenor, pp 83, 87, 93

[17] M'Culloch's *Commercial Dictionary*, pp 233, 234

[18] Porter, p 293

[19] Eden, ii 292

[20] Porter, pp 151, 165

[21] *Encyclopædia Britannica*, sub 'Agriculture'

[22] The stock-jobbers, *e g* Ricardo, bought up estates, and property very much changed hands The new landlords were probably more capable of developing the resources of their properties

[23] Cobbett's *Rural Rides*, Reigate, October 20, 1825, p 241 (ed 1830) Cf Martineau's *History of England from* 1800 *to* 1815 (1878), p 18

[24] Report of Committee on labourers' wages (1824), p 57.

9 THE GROWTH OF PAUPERISM

[1] *Essay on Population*, 7th edition, p 429

[2] Stubbs's *Constitutional History*, vol iii p 600

[3] *Ibid*, p 599

[4] *Ibid*, p 604

[5] Nicholls's *History of the Poor Law*, i 36

[6] *e g* Seebohm in *Fortnightly Review*, ii 270 See Cunningham's *Growth of English Industry and Commerce*, p 191

[7] A law of 15 Richard ii (c 15) enacts that if 'a parish church is appropriated,' the 'diocesan shall ordain a convenient sum of money to be distributed yearly of the fruits and profits of the same to the poor parishioners in aid of their living and sustenance, for ever'

[8] More's *Utopia* (Arber's Reprints), p 41

[9] Rogers's *History of Agriculture and Prices*, vol iv pp 718-19

[10] Stubbs, iii. p 600

[11] See Adam Smith's sketch of the Law of Settlement in his chapter on Wages, and on the Poor Laws generally, Fowle's *History of the Poor Law*, in the *English Citizen* Series

[12] Laurence, pp 3, 4

[13] *State of the Poor*, ii 30, 384 See also pamphlet by James Massie (1758) quoted *ibid*, i 329

[14] *Ibid*, ii 550, 147

[15] *Ibid*, i xviii Eden himself was in favour of enclosures, thinking that the increased demand for regular labour consequent upon them would more than compensate the labourer, but wished each labourer to have 'a garden and a little croft' reserved.

[16] Howlett, quoted in Eden, i 380 *et seq*

[17] Howlett, *loc cit*

[18] 'It is not true that the rate of wages has not increased with the nominal price of provisions I allow it has not fluctuated with that price, nor ought it, and the squires of Norfolk had dined, when they gave it as their opinion, that it might or it ought to rise with the market of provisions The rate of wages has in truth no *direct* relation to that price Labour is a commodity like any other, and rises or falls according to the demand This is in the nature of things, however, the nature of things has provided for their necessities Wages have been twice raised in my time, and they bear a full proportion or even a greater than formerly to the medium of provision during the last bad cycle of twenty years'—*Thoughts and Details on Scarcity*, Burke's Works, vol v p 85

[19] There has always been more practical Socialism in England than elsewhere owing to our ruling landed aristocracy The Factory Act of 1847 was carried by the Conservatives in the teeth of the Radical manufacturers

[20] Burke's Works, vol v p 84

[21] *Farmer's Letters*, vol i p 302

[22] 'During the late dearth half of the gentlemen and clergymen in the kingdom richly deserved to have been prosecuted for sedition After inflaming the minds of the common people against the farmers and corn-dealers by the manner in which they talked of them or preached about them, it was a feeble antidote to the poison which they had infused, coldly to observe that however the poor might be oppressed or cheated it was their duty to keep the peace'—Malthus, *Principle of Population*, 7th ed p 438, note

[23] This was the famous 'Speenhamland Act of Parliament,' so called because the Magistrates met at Speenhamland, near Newbury

[24] Nicholls's *History of the Poor Law*, vol ii p 137

10 MALTHUS AND THE LAW OF POPULATION

[1] 'Throughout the whole of the present work I have so far differed in principle from the former as to suppose the action of another check to population, which does not come under the head of either vice or misery, and in the latter part I have endeavoured to soften some of the harsher conclusions of the first essay'—Preface to 2nd edition, p vii Cf Bagehot's *Economic Studies*, p 137 'In its first form the *Essay on Population* was conclusive as an argument, but it was based on untrue facts, in its second form it was based on true facts, but it was inconclusive as an argument'

[2] *Essay on Population* (7th edition), pp 271-80

[3] See Nordhoff's *Communistic Societies of the United States*, and *Essay on Population*, p. 286

[4] *Essay on Population*, 491, note

[5] Doubleday's *True Law of Population* (1842), p. 5.
[6] *Wealth of Nations,* bk i ch viii
[7] Bagehot's *Economic Studies,* 141 *et seq*
[8] *Science of Wealth,* 462-4
[9] *Progress and Poverty,* book ii ch. i These lectures were given before the book had acquired general notoriety—Ed
[10] Since 1860 the population of the United Kingdom has increased from 29,070,932 to 35,003,789, or 20 per cent, while its wealth has grown in the same time from £5,200,000,000 to £8,420,000,000, or 62 per cent See Mulhall in *Contemporary Review,* Dec 1881 The consumption of tea per head has increased from 2 66 lbs to 4 66 lbs, of sugar from 34 61 lbs to 62 33, of rice from 5 94 lbs to 14 31, and many other articles in like proportion.
[11] *Origin of Species* (Pop Ed), 50
[12] 'While all through the vegetable and animal kingdoms the limit of subsistence is independent of the thing subsisted, with man the limit of subsistence is, within the final limits of earth, air, water, and sunshine, dependent upon man himself'—*Progress and Poverty,* book ii c iii p 117. Cf *Unto this Last* (3rd edition), p 157-8.
[13] Eden, i 361—'I know several parishes, in which the greatest difficulty the poor labour under is the impossibility of procuring habitations'
[14] *Commission on Labourers' Wages* (1824), p 60 The number of cottages in rural districts went on decreasing as late as 1860, but the Union Chargeability Act is now said to have 'completely cured the practice of clearing away cottages'—Evidence of Right Hon Sclater-Booth before Agricultural Commission of 1881 Qu 9090
[15] Its action has not ceased, however, altogether. See Heath, *English Peasantry,* p 36, for an instance as late as 1872
[16] *Essay on Population,* p 129, 7th ed
[17] *Ibid,* p 315
[18] Children were migrated wholesale into the towns from the country districts So in Switzerland the introduction of manufactures into some of the smaller cantons, at the end of the last century, gave a great stimulus to early marriages—*Essay on Population,* p. 174.
[19] *Ibid,* p 430
[20] *Ibid,* p 403
[21] Molesworth, *History of England,* vol i p. 319
[22] *Essay on Population,* p. 292
[23] *The Coal Question,* p. 170
[24] *Essay on Population,* pp 266, 286, 512
[25] See M Baudrillart's book on Normandy, where not only moral considerations but enlightened self-interest is invoked against the system

11. THE WAGE-FUND THEORY

[1] *Fortnightly Review,* May 1869 reprinted in *Dissertations and Discussions,* vol iv. p 43
[2] The employer does not say, 'I will spend so much in wages,' or 'I will employ so many labourers,' but 'I will spend so much if labour is at, say 30s, and so much if it is at 20s' On the other hand, Mr Heath's statement as to the farmers in 1872 shows that men may determine to spend a fixed sum, that they would not vary it, however, he attributes to the accidental cause of 'characteristic obstinacy'—See Heath's *English Peasantry,* p 121, *Peasant Life,* p 348
[3] Senior's *Journals, etc, relating to Ireland,* vol ii p 15

[4] Caird, *English Agriculture in* 1850, p 519

[5] Ricardo (M'Culloch's edition, 1881), pp 54 5

[6] See in the earlier editions the chapter on the Probable Future of the Labouring Classes in his *Political Economy,* bk iv c vii

[7] *Essay on Population,* vol ii pp 64, 71, 76 (6th ed) In reality the agricultural produce of the country was increased by one-fourth between 1803 and 1813 See Porter, p 149

[8] See Malthus's letter to Godwin in Kegan Paul's *Life of Godwin,* vol i. p 322 *Essay on Population,* vol ii pp. 93, 94, James Mill's *Elements of Political Economy,* ch ii p 29 (1821)

[9] Mill's *Political Economy* (1st edition), vol i p 475

[10] This solution was first given by Mr Cliffe-Leslie in an Article on 'Political Economy and Emigration' in *Fraser's Magazine,* May 1868; but its full bearing was first shown by Mr Walker in his books on the *Wage Question*

[11] *Trades-Union Commission* (1867), Qu 3770 (Report II p 3) A S Hewitt, ironmaster, said, 'The rate of wages is regulated substantially in our country (U S) by the profits which a man can get out of the soil which has cost him little or nothing except the labour which he himself and his family have put upon it'

[12] *E g*, in the horse-nail trade wages advanced 50 per cent between 1850 and 1864, but since then 'horse-nail workmen during some time have not had half-work, their wages also declining'—Timmins, p 116

[13] *Progress and Poverty,* book iii ch vii p 197

[14] *Progress of the Nation,* 1847, p 478

[15] *Inquiry into the Depreciation of Agricultural Labour,* by J Barton (1820), p 11 At Bury, in Suffolk, a labourer in 1801 remembered when wages were 5s, in order to buy as much in 1801 as their 5s would have bought at the earlier date, they should have been £1, 6s 5d; they actually were 9s plus 6s from the rates, or altogether 15s

[16] *Committee on Labourers' Wages* (1824), p 47

[17] *Ibid*, p 48

12 RICARDO AND THE GROWTH OF RENT

[1] *Logical Method of Political Economy,* p 42, 2nd ed, 1875

[2] This was first pointed out in a review of Mill's *Principles* in *Fraser's Magazine* for 1848

[3] *Works* (M'Culloch's edition, 1876), pp 54, 55, 375

[4] *The Present Position and Prospects of Political Economy,* p 22

[5] See the papers of the Land Tenure Reform Association, in *Dissertations and Discussions,* vol iv

[6] We find almost exactly the same theoretical conclusions drawn from Ricardo's premisses by Professor Cairnes See his *Leading Principles of Political Economy* (p 333), published in 1864 Of course he does not also draw the same Socialistic conclusions as Mr George

[7] Roesler, *Grundsatze,* p 210, quoted in Roscher's *Grundlagen,* p 352

[8] That is, accepting Mill's correction of Ricardo's theory—See his *Political Economy,* vol i p 493 (1st ed, 1848)

[9] *Inquiry into the Nature of the Corn Laws* (Edinburgh, 1777)

[10] *Essay on the Application of Capital to Land,* by a Fellow of University College, Oxford (1815), *Observations on the Effect of Corn Laws* (1814), by Rev T R. Malthus

[11] Notice the verbal ambiguity of the text-books. When they say that 'rent is not an *element* of price,' they mean that it is not a *cause* of price For instance, the great rent paid for mills *is* an *element* in the price of yarn.

[12] *Contemporary Review*, April 1880

[13] *E g*, 'As a consequence both of their difference of situation and their fertility, in the Himalaya, the farmers low down on the sides pay 50 per cent of the gross produce as farm rent, and higher up 20 per cent less.' —Roscher, *Political Economy* (English translation, Chicago, 1878), ii 19 In Buenos Ayres, 'only a short time since, an English acre, fifteen *leguas* from the capital, was worth from 3d to 4d, and at a distance of fifty *leguas*, only 2d'—*Ibid*, ii 28.

[14] Roscher, *op cit.*, ii 32, note.

[15] *Contemporary Review*, April 1880

[16] Works, p 40 (M'Culloch's ed, 1876)

13 TWO THEORIES OF ECONOMIC PROGRESS

[1] See *Agricultural Commission*, 1882, vol iii pp 37 38, on the other hand Kebbel's *Agricultural Labourer*, p 22, and Heath's *English Peasantry*, pp. 67, 348 Mr Kebbel's statement really bears out the assertion in the text, he says, 'The present writer could point to more than one large estate, where a very low rental has been paid for years, but where the wages of the labourer are perhaps at the lowest point, *though the attention of the tenants has been repeatedly directed to the anomaly*'

[2] *Progress and Poverty*, book iv c iii p 229, 4th ed, 1881

[3] *Leading Principles*, p 333

[4] Weekly expenses of a carpenter with wife and 3 children

	In 1839 *s*	*d*	In 1875 *s*	*d*
8 quartern loaves,	5	8	4	4
8 lbs meat,	4	4	6	0
1½ lbs butter,	1	6	1	9
1 lb cheese,	0	7	0	8
2 lbs sugar,	1	2	0	8
¼ lb tea,	1	6	0	8
1 lb soap,	0	5	0	4
1 lb candles,	0	6	0	6
1 lb rice,	0	4	0	2
2 quarts milk,	0	4	0	8
Vegetables,	0	6	1	0
Coals and firing,	1	0	2	4
Rent,	4	0	6	6
Clothes and sundries,	3	0	3	6
	24	10	29	1

Weekly expenses of a farm labourer with wife and 3 children

	In 1839 *s*	*d*	In 1875 *s*	*d*
9 quartern loaves,	6	4½	4	10½
1½ lb meat and bacon,	0	9¾	1	0¾
1 lb cheese,	0	7	0	8
½ lb butter,	0	6	0	7
2 oz tea,	0	9	0	4
1 lb sugar,	0	7	0	4
½ lb soap,	0	3	0	2

½ lb candles,	0 3	0 3
Coals and firing,	1 0	1 6
Rent,	1 0	1 6
Clothes and sundries,	3 0	3 6
	15 1¼	14 9¼

[5] This sum has been carefully calculated from the statistics of Building Societies, Savings Banks, Co-operative Societies, Trades-Unions, Friendly Societies, and Industrial and Provident Societies

[6] Giffen's *Essays on Finance*, p 173 5 See also Mulhall, in *Contemporary Review*, December 1881

[7] *Contemporary Review*, February 1882 He defines a rich family as one spending over £5000, a middle-class family as one spending between £5000 and £100, a working-class family, as one spending under £100

[8] The arguments here used against Henry George are expanded in the two published lectures on *Progress and Poverty* which were delivered in January 1883 —Ed

[9] *Progress and Poverty*, book iii ch vi, (4th ed, p 184)

[10] *Ibid*, p 197

14. THE FUTURE OF THE WORKING CLASSES

[1] See Howell's *Conflict of Capital and Labour*

[2] Porter, pp 683 685

[3] See Dr Jessop, in the *Nineteenth Century*, May 1882

[4] *Progress and Poverty*, book x c iv p 480

[5] *The Participation of Labour* (London, 1881), and *Profit-sharing between Capital and Labour* (Cambridge, 1882)

[6] See Nordhoff's *Communistic Societies*

[7] See the account of his system in M de Laveleye's *Le Socialisme Contemporain*